2019

ISSN-0975-2560

पारमिता

(वर्ष 9 अंक 9)

दर्शन परिषद् (मध्यप्रदेश एवं छत्तीसगढ़)
चरन् वै मधु विन्दति
स्थापना 1994

सम्पादक

जय प्रकाश शाक्य

दर्शन परिषद

(मध्यप्रदेश एवं छत्तीसगढ़)

पंजीयन क्रमांक 04/14/01/08825/06

email:mpcgdarshanparishad@gmail.com

परामर्शदात्री समिति -

1. प्रो. छाया राय, जबलपुर
2. प्रो. गायत्री सिन्हा, जबलपुर
3. प्रो. अखिलेश्वर प्रसाद दुबे
4. डॉ. राजेश चौरसिया, वाराणसी

संपादाक मंडल -

1. डॉ. जे. एस. दुबे, भोपाल
2. डॉ. श्रीकांत मिश्र, रीवा
3. डॉ. सत्यप्रकाश पाण्डेय, रतलाम
4. प्रो. प्रदीप कुमार खरे, भोपाल

ISSN-0975-2560

पारमिता

(वर्ष 9 अंक 9)

देवदास साकेत
पी.एच.डी.-दर्शनशास्त्र
मो. 9479648349, 7999975286
ईमेल-devdasphilosophy@gmail.com

सम्पादक

जय प्रकाश शाक्य

दर्शन परिषद

(मध्यप्रदेश एवं छत्तीसगढ़)
पंजीयन क्रमांक 04/14/01/08825/06
email: mpcgdarshanparishad@gmail.com

प्रकाशक
सुरेन्द्र सिंह नेगी
अध्यक्ष - दर्शन परिषद (म.प्र. एवं छत्तीसगढ़)

सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

मुद्रक : शिवा कम्प्यूटर्स
साई मंगलम कॉम्पलेक्स,
इलाहाबैंक बैंक के सामने,
विद्यापुरम, मकरोनियां, सागर (म.प्र.)
मोबा. ९८२७०४५४८६

प्रतियां : १००

मूल्य : ३५०/-

वर्ष : २०१९

इस शोध प्रत्रिका में प्रकाशित लेखों के लिए लेखक सर्वदा उत्तरदायी है।
उनके विचारों से परिषद् की सहमति अनिवार्य नहीं है।

सम्पादकीय

अत्यंत प्रसन्नता का अवसर है कि दर्शन परिषद (मध्यप्रदेश एवं छत्तीसगढ़) का दो दिवसीय 14वां वार्षिक अधिवेशन महाराजा छत्रसाल की कर्मभूमि छतरपुर में दिनांक 22–23/2019 फरवरी को आयोजित होने जा रहा है । इस अवसर में दर्शन के सभी प्रतिभागियों का ह्रदय से आभार व्यक्त करता हूँ ।

परिषद की वार्षिक पत्रिका **''पारमिता''** के वर्ष 9 अंक 9 का प्रकाशन भी अंतिम चरण में है। पत्रिका की आगामी सफलता के लिए परिषद के सभी आजीवन सदस्यों और वाषिक सदस्यता ग्रहण करने वाले प्रतिभागियों का सहयोग हमें पूर्व में भी मिलता रहा है और आगामी अधिवेशनों में भी मिलता रहेगा ऐसी मेरी आशा है । किन्तु क्या भविष्य में ''पारमिता'' को अर्धवार्षिकी बनाया जाए यह निर्भर करेगा परिषद की सामान्य सभा की बैठक तथा उसके सदस्यों की परस्पर आर्थिक सहभागिता और सक्रिय योगदान पर ।

संपादक मंडल और मेरी ओर से आप सभी को अनेकशः शुभकामनाऐं ।

आपके आगमन की प्रतीक्षा में ।

(जयप्रकाश शाक्य)

-अनुक्रम-

1.	रामचरित मानस में राम तत्त्व	: प्रो. सविता गुप्ता	5
2.	पर्यावरण : पौराणिक संदर्भ	: डॉ.विनीता अवस्थी	11
3.	मानव जीवन में पुरूषार्थ की सार्थकता	: दिवाकर महोबिया	19
4.	व्यक्तित्व विकास एवं नैतिक मूल्य	: देवदास साकेत	25
5.	भारतीय तत्व चिंतन में योग	: डा.रीना मिश्रा	37
6.	पुरूषार्थ–रामचरित मानस की दृष्टि में	: डॉ0 बबिता सिंह	47
7.	भारतीय धर्मशास्त्रों में पुरुषार्थ की उपादेयता	: सरला साहू	57
8.	''एकात्म मानववाद में पुरूषार्थ की अवधारणा''	: डॉ. लक्ष्मी मेहर	67
9.	भारतीय संस्कृति में आश्रम व्यवस्था की परिपूर्णता 'पुरुषार्थ'	: डॉ. नोएल दान	74
10.	भारतीय दर्शन एवं पुरुषार्थ व्यवस्था	: ज्योति गोयल	80
11.	पुरूषार्थ व्यवस्था के समसामयिक अर्थ सन्दर्भ	: डॉ. सत्यनारायण देवलिया	86
12.	अनुशासन : एक दार्शनिक विश्लेषण	: प्रो0 ए. पी. दुबे	92
13.	'भारत के देवी–देवता तथा सांस्कृतिक मूल्यों का पुनः चिंतन'	: डॉ. हरनाम सिंह अलरेजा	97
14.	**Science of Yoga Practices on Delaying Aging**	: DR. Shama Afroze Baig	101

रामचरित मानस में राम तत्त्व

प्रो सविता गुप्ता
दर्शन शास्त्र विभाग,
डॉ.हरीसिंह वि.वि.
सागर म.प्र.

काव्य और दर्शन में साधनरत भेद होते हुए भी साध्यगम अभेद है। दर्शन की साधना सत्य साक्षेप और काव्य की सौन्दर्य साक्षेप है। दोनों की परिणति परमतत्व शिव की निर्विकल्प आत्मानुभूति में होती है जो एक साथ ही कवि और दार्शनिक दोनों का लक्ष्य है जिसका प्रकटन वेद और उपनिषदो में ब्रह्म पद से हुआ है। तुलसी उसे 'राम' पद से अभिव्यक्त करते हैं। नाम में भेद होने पर भी दोनों का निहितार्थ एक ही है। यदि कहा जाये कि वेदों का ब्रह्म और तुलसी के राम एक ही तत्त्व के दो नाम हैं, तो अतिशयाक्ति नहीं होगी। तुलसी ने वेद वर्णित ब्रह्म को रामचरित मानस के काव्य रस में घोल कर रामरूप में जनमानस के लिए अत्यंत सरल, सहज, सुगम और बोधगम्य बना दिया।

वेद और उपनिषदों में वर्णित ब्रह्म का स्वरूप मुख्यतः पाँच पक्षों के आधार पर देखा जा सकता है–

1. एकत्व या अद्वयत्व– जो ब्रह्म के विभुत्व, सर्वव्यापकत्व और सर्वात्मकत्व का द्योतक है।
2. सत्व– इसमें ब्रह्म का नित्यत्व, अनादित्व, अनन्यत्व, अविकियत्व एवं सर्वधारत्व समाविष्ट है।
3. चित्व– यह ब्रह्म के ज्ञानत्व, प्रकाशत्व, स्वयंज्योति और सर्वावभासकत्व को इंगित करता है।
4. आनन्द– ब्रह्म का निरतिशयत्व रसतत्व और परमपुरूषार्थ रूप है।
5. निर्गुणतत्व– इसमें ब्रह्म का निर्विशेषत्व, निराकारत्व, निष्क्रियत्व, ,निर्विकल्पपत्व एवं शुद्धत्व आते हैं।

तुलसी के राम में इन सभी गुणों का समाहार पाया जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि एक ही परमतत्त्व की शाब्दिक व्याख्या ब्रह्म और राम पर से की जा रही है। तुलसी के रामचरित मानस में राम के निराकार और साकार दोनों रूपों का निर्वचन मिलता है तुलसी राम के द्वारा ब्रह्मण्ड के परमतत्त्व के निर्गुण स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए सृष्टि की

व्याख्या हेतु उसके कारण भूत अधिष्ठान रूप में राम के सगुण रूप को हमारे सम्मुख रखते हैं। इसके साथ ही तुलसी राम के अवतारमयी व्यक्तित्पूर्ण व्याख्या द्वारा मानव जीवन दर्शन, मानवीय व्यवहार और सम्बन्धों की गरिमामयी विवेचना करते हुए धर्म और कर्त्तव्य में मधुर समन्वय स्थापित करते हैं। तुलसी राम की निर्गुणमयी व्याख्या में उसका एकत्व, सर्वव्यापकत्व दिखाते हुए कहते हैं–

एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानंद परधामा।।[1]

व्यापक अजित अनादि अनंता।।[2]

ब्रह्म जो व्यापक विरज अज अकल अनीह अभेद।।[3]

व्यापक विस्वरूप भगवाना।।[4]

रामब्रह्म व्यापक जग जाना। परमानंद परेस पुराना।।[5]

अंतरजामी प्रभु सभजाना।।[6]

सबदरसी सब अंतरजानी, सोई सरबग्य रामु भगवाना।।[7]

गुणातीत सचराचर स्वामी। रामु उमा सब अंतरजामी।।

प्रकृति पार प्रभु सब उर वासी।

तुम्ह सर्वग्य कहऊँ सति भाऊँ।

सर्व सर्वगत सर्व उरालया।। [8]

राम ब्रह्म के सामान ही नित्य,अनादि,अवकिय,अनन्यतम एवं सम्पूर्ण सृष्टि का सर्वाधार है–

मानस जो ब्रह्म अजमद्वैतमनुभवगम्य मन पर ध्यावही।।[9]

व्यापक एकु ब्रह्म अविनासी। सत चेतन धन आनंद रासी।।[10]

अगुन अरूप अलख अज जोई।।[11]

राम ब्रह्म चिन्मय अविनासी।।[12]

अगुन अखण्ड अनंत अनादि।।[13]

अंत कोऊ जासु न पावा।।[14]

जय भगवत अनंत अनामय।।[15]

आदि में तुलसी राम को सर्वप्रकाशक मानते हैं–

सब कर परम प्रकाशक जोई। राम अनादि अवध पति सोई।।[16]

सहज प्रकाश रूप भगवाना। नहि तहं पुनि बिग्यान बिहाना। [17]

जगत प्रकास्य प्रकासक रामू।।[18]

तुलसी के राम आनंदस्वरूप हैं वह सच्चिदानंद हैं। मानस में इसके कई उद्धरण मिलते हैं–

राम सच्चिदानंद दिनेसा। राम सच्चिदानंद धन कर नर चरित उदार।

निसि वास ध्यावहीं गुन गन गावहिं जयति सच्चिदानंद।

तुलसी के राम 'आनन्दहं' के आनंददाता हैं क्योंकि उसी आनंद सिन्धु के एक सीकर से ही त्रैलोक्य तृप्त हो जाता है–

जो आनंद सिन्धु सुखरानी। सीकरते त्रैलोक सुपासी।।

जो सुखधाम राम जस नामा। अखिल लोकदायक विश्रामा।।[19]

हरि व्यापक सर्वत्र समाना।। [20]

व्यापकु ब्रह्मु अलखु अबिनासी। चिदानंदु निरगुन गुनरासी।।[21]

तुलसी राम के निर्गुण रूप के साथ सगुण का भी निर्वचन करते हैं। अपने सगुण रूप में राम सृष्टि के कारणभूति एवं सृष्टिकर्त्ता, धर्ता, हर्ता और मायाधीश रूप में गोचर होते हैं। राम का यह रूप ब्रह्म का अपररूप है–

देस काल दिसि बिदिसिहु माहीं। कहहु सो कहॉं जहॉं प्रभु नाहीं।।[22]

व्यापक विश्व रूप भगवाना। तेहि धरि देह चरितकृत नामा।।[23]

सोई राम व्यापक ब्रह्म भवन निकापतिमायाघनी।।[24]

ब्रह्मादि जनक जग स्वामी। ब्रह्म सक उर अंतरजामी।।[25]

व्यापक अकल अनीह अज निरगुन नाम न रूप। भगत हेहु नाना विध करत चरित अनूप।।[26]

व्यापक ब्रह्म निरंजन निरगुन बिगत बिनोद। सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या के गोद।।[27]

विश्वामित्र के साथ यज्ञ रक्षा के लिए अग्रसर होते हुए राम के लिए तुलसी कहते हैं–

पुरूष सिंह दोऊ वीर हरणि चले मुनि भय हरन। कृपा सिंधु मति धीर अखिल विस्व कारन करन।।[28]

राम अखिल विश्व के कारण हैं, प्रकृति के अधिकरण हैं, आश्रय हैं। अतः तुलसी उन्हें 'कारण–करण' कहते हैं–

तुलसी के राम अपनी माया द्वारा ही मनुष्य शरीर ग्रहण करते हैं। तुलसी के राम अवतारी राम हैं, साधारण मनुष्य नहीं हैं। तुलसी कहते हैं कि अपनी दिव्यलीला शक्ति के योग से निराकार भगवान उसी प्रकार साकार हो जाते हैं जैसे– जल हिम रूप में अव्यक्त अग्नि दाहक प्रकाशक रूप में व्यक्त होती है–

जो गुन रहित सगुन सोई कैसे। जलु हिम उपल बिलग नहीं जैसे।।[29]

तुलसी के राम यह सब लीला एक नट की भाँति करते हैं। वे अपनी सृष्टि से अलिप्त और असंपृक्त ही रहते हैं–

जथा अनेक बेष धरि नृत्यकरई नट कोई। सोई–सोई भाव देखावई आपु न होइ न सोई।।

तुलसी निर्गुण ब्रह्म के सगुण होने के कई कारण मानते हैं–

राम जनम के हेतु अनेका। परम विचित्र एक ते एका।

जब–जब होई धरम की हानी। बढ़हिं असुर अधम अभिमानी।

तब–तब प्रभु धरि विविध सरीरा। हरहिं कृपा निधि सज्जन पीरा।।[30]

राम के निर्गुण और सगुण रूप के सम्बन्ध में तुलसी कहते हैं कि दोनों में कोई भेद नहीं है। निर्गुण रूप समझना तो सुकर है पर सगुण स्वरूप का रहस्य कोई नहीं जान सकता। निरगुण रूप सुलभ अति, सगुन जानहिं कोय।

जयसगुण निरगुण रूप रूप अनूप भूप सिरोमने।।[31]

सगुनहि अगुनहि नहिं कछु भेदा।।[32]

जो ब्रह्म निर्गुण है उसे सगुण मानना तथा अवतारी मानना भक्त की भावना की बात है। सगुणता सिद्धि तर्क द्वारा नहीं होती वरन् श्रद्धा का सहारा लेना पडता है। तुलसी कहते हैं कि जो परमार्थ विद् है वे ब्रह्म की निर्गुण, निर्विशेष ही मानते हैं–

प्रभु जे मुनि परमार्थबादी। कहहिं राम कहुं ब्रह्म अनादी।।[33]

तुलसीदास राम के निर्गुण और सगुण स्वरूप को परमतत्त्व की तात्विक एकता के रूप में ग्रहण करते हैं। निर्गुण और सगुण में कोई भेद नहीं है जो निर्गुण निर्विकल्प है वही भक्तों के प्रेमवश सगुण हो जाता है –

सगुनहि अनुनहि नहिं कछु भेदा। गावहिं मुनि पुराण बुद्धि वेदा।

अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेमवश सगुन सो होई।।[34]

जो ज्ञान,वाणी और इन्द्रियों से परे अजन्मा है, वही भगवान नर लीला करते हैं–

ग्यान गिरा गोतीत अज माया मन मनु पार। सोई सच्चिदानंद धन का नर चरित उदार।।[35]

तुलसी के लिए राम ही सब कुछ हैं। वे राम के माध्यम से परम तत्व के निराकार और साकार दोनों रूपों का निर्वचन करते हैं। किन्तु तत्वतः उन्हें राम का निर्गुण रूप ही अभिप्रेत है। रामचरित मानस के राम का व्यक्तित्वपूर्ण सगुण रूप ही प्राधान्य है किन्तु राम के निर्गुण रूप को ही तात्विक मानना युक्ति युक्त है। यदि मायाधीस ग्यान गुन धामू आदि

18. रामचरितमानस–बालकाण्ड, दोहा 116 के बाद चौपाई–6

19. रामचरितमानस–बालकाण्ड, दोहा 115 के बाद चौपाई–6

20. रामचरितमानस–बालकाण्ड, दोहा 116 के बाद चौपाई–7

21. रामचरितमानस–बालकाण्ड, दोहा 196 के बाद चौपाई–5,6

22. रामचरितमानस–बालकाण्ड, दोहा 184 के बाद चौपाई–8

23. रामचरितमानस–बालकाण्ड, दोहा 340 के बाद चौपाई–6

24. रामचरितमानस–बालकाण्ड, दोहा 184 के बाद चौपाई–6

25. रामचरितमानस–बालकाण्ड, दोहा 12 के बाद चौपाई–4

26. रामचरितमानस–बालकाण्ड, दोहा 50 के बाद छन्द–2

27. रामचरितमानस–बालकाण्ड, दोहा 149 के बाद चौपाई–6

28. रामचरितमानस–बालकाण्ड, दोहा 205

29. रामचरितमानस–बालकाण्ड, दोहा 198

30. रामचरितमानस–बालकाण्ड, दोहा 208

31. रामचरितमानस–बालकाण्ड, दोहा 115 के बाद चौपाई–3

32. रामचरितमानस–बालकाण्ड, दोहा 120 के बाद चौपाई–6,8

33. रामचरितमानस–बालकाण्ड, दोहा 12 के बाद छन्द–1

34. रामचरितमानस–बालकाण्ड, दोहा 115 के बाद चौपाई–1

35. रामचरितमानस–बालकाण्ड, दोहा 107 के बाद चौपाई–5

36. रामचरितमानस–बालकाण्ड, दोहा 115 के बाद चौपाई–2

37. रामचरितमानस–उत्तरकाण्ड, दोहा 25

पर्यावरण : पौराणिक संदर्भ

डॉ.विनीता अवस्थी
प्राध्यापक दर्शनशास्त्र,
शासकीय नर्मदा महाविद्यालय,
होशंगाबाद

पुराणों में प्रकृति की आराधना है। पुराण जलचर, थलचर, वनस्पति जगत एवं नभचर का प्रतिनिधित्व करते हैं, यथा–मत्स्यपुराण, कूर्मपुराण जलचर का, वराह पुराण थलचर, पशुओं) का, पद्म पुराण वनस्पति जगत् का तो वराह पुराण नभचर, पक्षी जगत् का प्रतिनिधित्व करते हैं। प्रकृति के इसी विकास क्रम में प्राकृतिक तत्वों के नाम पर अग्निपुराण, शरीरशास्त्र के नाम पर लिंगपुराण व नरों के नाम पर नारद पुराण, मार्कण्डेय पुराण एवं मानव पुराण आते हैं। पुराणों में इस वर्णन का प्रमुख सार यह है कि ईश्वर प्रकृति में अनेक रूपों में प्रकट हुए हैं तथा उन्होंने प्रकृति के सभी जीवों को मान्यता दी है। पुराणों में प्रकृति के प्रत्येक पक्ष को मान्यता मिली है। गरूण पुराण में उल्लिखित 'पशुनां सर्वभूतानां शांतिर्भवतु नित्यशः' का दिव्य मंत्र पर्यावरणीय चेतना के सत्य को उजागर करता है। ब्रह्मपुराण में कहा गया है कि ईश्वर ने प्रकृति के सभी जीवों को मान्यता दी है शरीर धारण करने से ही कोई छोटा या बड़ा नहीं हो जाता है अर्थात् प्रत्येक जीव की अपनी अलग पहचान व गुण हैं।

पुराणों में पर्यावरण–संरक्षण की धारणा सम्पूर्ण रूप में उपलब्ध होती है। 'श्रीमद्भागवत पुराण के चालीसवें अध्याय के तेरहवें श्लोक में अविनाशी, आदि पुरूष नारायण श्री कृष्ण का वर्णन करते हुए लिखा है कि अग्नि आपका मुख है, पृथ्वी चरण है, सूर्य नेत्र है, आकाश नाभि है, दिशाएँ कान है, स्वर्ग सिर है, देवेन्द्रगण भुजाएँ हैं, समुद्र कोरव है, वायु प्राणशक्ति है। वृक्ष और औषधियाँ रोम है, मेघ सिर के केश हैं, पर्वत आप परमात्मा के अस्थि समूह और नख हैं, रात्रि और दिन पलकों का खोलना और मीचना है, प्रजापति लिंग है तथा दृष्टि आपका वीर्य है'।

यहाँ सम्पूर्ण सृष्टि को एक विराट पुरूष के रूप में वर्णित कर ईश्वर का वास प्रकृति की प्रत्येक कृति में स्थापित करने के पीछे यही भावना है कि सम्पूर्ण प्रकृति एक–दूसरे के सह अस्तित्व को संरक्षित रखने पर ही पूर्ण है। इनमें यदि एक का भी संतुलन बिगड़ा तो पर्यावरण का परिस्थिति की तंत्र गड़बड़ा जाएगा जिसके दुष्परिणाम सभी को भोगने होंगे।

पुराणों में पृथ्वी, जल, वायु, पेड़–पौधे, जीव–जन्तु आदि को संरक्षित रखने हेतु अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं। अपवित्र भूमि की शुद्धि हेतु अनेक उपाय बताये गये हैं– पदमपुराण में वर्णन है–

पर्जन्यवपगाच्चैव भूरमेध्यां विशुध्यति (1.8)

अर्थात् अपवित्र हुई भूमि को मिट्टी को खोदकर अलग कर देने से, भूमि पर काष्ठ–फूस आदि जला देने से, गोबर लीपने से, धावन और मेघ के द्वारा वृष्टि हो जाने से अमेध्य भूमि की शुद्धि हो जाती है।

समुद्र में वनस्पतियाँ सूर्य की किरणों से ही जीवन पाती हैं व पननती हैं। समुद्र की गहराई में स्थित करोड़ों जीव–जन्तु इन वनस्पतियों से संरक्षित हैं।

वायुपुराण मे कहा गया है– 'जगतस्य नियंता आदित्य'

शवपुराण में वर्णन है– यथा रविः स्वकिरणादशुद्धिमपनेष्यति। (1–45)

अर्थात् सूर्य अपनी किरणों के द्वारा अपवित्रता को नष्ट कर देता है। सूर्य की रश्मियों की शक्ति को सोलर एनर्जी के रूप में आज हम सभी पहचानते हैं। हमारे ऋषि मुनि सूर्य के विभिन्न गुणों से प्राचीन समय से अवगत थे। खेत में बोनी के पहले भूमि खोदकर रखना जिससे सूर्य की किरणों से भूमि संरक्षित हो जाएं व उसके विभिन्न जीव को जो फसल को हानि पहुँचा सकते है वे नष्ट हो जाएं। अन्न भण्डारन के पहले भी उसे धूप दिखाकर तथा नीम की पत्तियों को नीचे बिछाकर संरक्षित किया जाता था जो पूर्णतः प्राकृतिक व लाभप्रद किया थी। अब विभिन्न रासायनिक पदार्थों के माध्यम से अन्न को संरक्षित रखते हैं जो स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है।

ब्रह्मपुराण के अनुसार–

लेपादुल्लेखनात्सेकाद् समार्जनादिना। (11.24)

भूमिविशुध्यते कालहाहमार्जनादिनगोकुलः। (11.23)

भूमि की शुद्धि दाह–मार्जन (झाड़ना, बुहारना) और गायों के बैठने से हो जाती है। जल–जल के बिना जीवन निर्वाह सम्भव नहीं है। सृष्टि कम में सबसे पहले जल को सत्ता को स्वीकार किया गया है। प्रकृति में जल के महत्व से सभी अवगत हैं।

नारदीय पुराण में लिखा है–

ततः सलिलमुत्पन्नं तमसीव तमः परम्।

तस्मा सलिलोत्पीडा दुदतिष्ठित् मारूतः। (1/42/51)

अर्थात् अंतरिक्ष से, सबसे पहले जल का प्रादुर्भाव हुआ।

संरक्ष्यार्थ च भूतानां सृष्टिं प्रथमतोः जलम्।

यत्प्राणाः सर्वभूतानां वृर्दन्ते येन च प्रज्ञा।। (1/42/42–43)

जीवों की सुरक्षा के लिए उस परमतत्व ने सर्वप्रथम जल की सृष्टि की, क्योंकि जल ही सब प्राणियों का जीवन है। जल के बिना पर्यावरण व परिस्थितिक तंत्र में औषधियों, वनस्पति, जीव–जन्तु (जलचर, नभचर, थलचर) किसी का भी जीवन संभव नहीं है।

पुराणों में जल संरक्षण के अनेक उदाहरण मिलते हैं–जल के बिना जीवन निर्वाह नहीं हो सकता। प्राचीन समय में प्रदूषण वर्तमान समय जितना नहीं था। फिर भी अशौच के कारण जल प्रदूषित हो सकता था। अत' ऋषि–मुनियों ने मनुष्य द्वारा जल में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न न हो यथा जल–प्रदूषण व संरक्षण के विषय में अनेग उपायों का वर्णन मिलता है। जल संरक्षण की धारणा बनाये रखने के लिए पुराणों में जल के दूषित होने पर यातनाओं का भय एवं पाप लगने का वर्णन किया है–

श्मशाने च विण्मूत्रं च समचरेत्।

न गोमचे न महावृक्षैडथशाद्वलै।। पद्मपुराण द्वि.खं

पृष्ठ–85–30–31 ,32 33, 34।

पुराणों के अनुसार भगवान भास्कर साकार है। 'श्रीमदभागवत महापुराण द्वितीय खण्ड में वर्षा ऋतु का वर्णन इस प्रकार किया गया है– जिसमें सब जीवों की उत्पत्ति होती है उस वर्षा ऋतु का आगमन हुआ। उस समय चन्द्रमा और सूर्य के चारों ओर प्रकाशमय मण्डल दिखायी देने लगे और आकाश में क्षोभ उत्पन्न हो गया।(श्रीमदभागवत अध्याय,20–3)

सूर्य देव ने अपनी किरणों से आठ महीने तक पृथ्वी को जल रूप धन सींचा था उसे वर्षाकाल आने पर मेघ रूप अपनी किरणों से बरसाना आरंभ कर दिया। (श्रीमदभागवत अध्याय,20–5) ग्रीष्म ऋतु के ताप से सूखी हुई पृथ्वी वर्षा के जल से अभिषिक्त होकर फिर हरी–भरी हो गयी, जैसे काम्य तपस्या से दुर्बल हुआ शरीर उसका फल मिल जाने पर पुष्ट हो जाता है। (श्रीमदभागवत अध्याय,20–7)

वर्षा ऋतु में प्रकृति का वर्णन करते हुए (ग्यारहवें) श्लोक में लिखा है हरी–भरी घास के कारण हरी, बीर बहूटियों के कारण लाल और छत्राक पुष्प (वर्षा ऋतु में होने वाले एक पृथ्वी

के पुष्प) के कारण छत्रयुक्त होकर पृथ्वी नरेशों की सेना-सम्पति के समान सुशोभित होने लगी। (श्रीमद् भागवत अध्याय,20-11)

सब खेत अपनी अन्नरूप सम्पत्ति से किसानों को आनंदित करने लगे। (श्रीमद्भागवत अध्याय, 20-12)

नवीन जल का सेवन करे सेवन करने से जल और स्थल पर रहने वाले समस्त जीवों का रूप अति सुहावना हो गया। (श्रीमद्भागवत अध्याय,20-13)

उपरोक्त श्लोकों में जल की महत्ता व उपयोगिता का अत्यंत सुंदर वर्णन है साथ ही पर्यावरण दर्शन भी निहित है जो सहज ही सह अस्तित्व को (पृथ्वी, जल, आकाश, जीव-जन्तु व वनस्पति आदि) स्पष्ट करता है।

ब्रह्मपुराण में वर्षा के विषय में कहा गया है कि पृथ्वी का जल, सूर्य की रश्मियों के माध्यम से ऊपर जाकर वर्षा के रूप में पुनः पृथ्वी पर बरसता है। जहाँ मेघ बरसते हैं वहाँ भूमि सस्य सम्पन्न हो जाती है।

वृक्ष पर्यावरण संतुलन में अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। अतः पौराणिक साहित्य में वृक्षों को बहुत महिमान्वित किया गया है। यद्यपि पौराणिक काल में पर्यावरण प्रदूषण की समस्या नहीं थी तथापित धार्मिक व सामाजिक उपयोग की दृष्टि से वृक्षों के महत्व को प्रकशित किया गया व जनसामान्य को वृक्षारोपण व संरक्षण की प्रेरणा दी गई।

प्राचीन ग्रंथों में पुत्रों से भी अधिक वृक्षों के महत्व का प्रतिपादन प्राप्त होता है। वृक्षों का महत्व **'मत्स्य पुराण'** के निम्न कथन से स्पष्ट हो जाता है-

दसकूपसमावापषी दसवापीसमो हदः।

दसहदसमः पुत्रो दसपुत्रसमो द्रुमः।।

अर्थात् दस कूप के समान पुण्य एक पोखर बनाने में, दस पोखरों का पुण्य एक तालाब बनाने में, दस तालाब का पुण्य एक एक पुत्र से तथा दस पुत्र के समान पुण्य एक वृक्ष लगाने से प्राप्त होता है।

'मत्स्यपुराण' में वृक्षों की उपासना और वृक्ष-महोत्सव पर विचार किया गया है।

पदपानां विधिं सूतः यथावद् विस्तराद् वद्।

विधिना केन कर्त्तव्यं पाद्पोद्यापनं बुधैः।। मत्स्य पुराण 50.1

पौराणिक ऋषियों व मनीषियों का मत था कि वृक्षों को भी परिपुष्ट व संस्कार सम्पन्न किया जाना चाहिए, जिस तरह हम बच्चों को परिपुष्ट व संस्कारित करते हैं।

मत्स्यपुराण में वर्णन है–

सर्वैषध्युदकैः सिक्तान् विष्टातकविभूषितान्।
वृक्षान माल्यैरलंकृत्यं वासोभिः परिवष्टयेत्।। मत्स्यपुराण 59.3

अर्थात् वृक्षों को स्वस्थ्य रखने के लिए उन्हें उचित औषधियों से उपचारित जल से सींच कर, सुगंधित द्रव्य लगाकर, मालाओं से सजाकर, वस्त्रों से लपेट कर सुरक्षित रखें।

धूपोऽत्र गुग्गः श्रेष्ठस्ताम्रपात्रैराधिष्ठितान्।
सर्वान् धान्यथितान् कृत्वा वस्त्रगन्धानुलेपनैः।। मत्स्यपुराण–**59.7**

वृक्षमहोत्सव के फल के विषय में मान्यता है कि कोई भी मनुष्य जो एक भी वृक्ष आरोपित करता है, वह स्वर्ग में अनंतकाल तक सुख भोगता है–

यश्चैकमपि राजेन्द्र वृक्षं संस्थापयेन्नरः।
सोऽपि स्वर्गे वसेद्राजन् यावदिन्द्रायुतत्रयम्।। मत्स्यपुराण 59.17

वृक्षों के महत्व को बताते हुये एवं उनके संरक्षण हेतु पुराणों में वृक्षों को दुःख निवृत्ति एवं सुख समृद्धि से जोड़ा तथा आमजन (जनता) को वृक्ष लगाने के लिए प्रेरित किया। वराहपुराण में वर्णन है– जो मनुष्य क पीपल का या एक नीम का, एक बरगद या दस पुष्प के पौधे या दो अनार के या दो नीबू या पाँच आम के पेड़ लगाता है वह कभी भी कष्ट को प्राप्त नहीं होता।

अश्वत्थमेकं पिचुमन्दमेकं न्यग्रोधमेकं दश पुष्पजातीः।
द्वे द्वे तथादाडिमृमातुलिंङ्गे पञ्चाम्ररोधी नरकं न याति।। बराहपुराण 170.36

'वृहदधर्मपुराण' में भगवान विष्णु ने तुलसीपादप का भरपूर गुणगान किया है। अतः दैनिक पूजा में सभी नैवेद्य और तुलसीदल दोनों एक कोटि के हैं ब्रहदधर्मपुराण (8.20) तुलसी को विशेष स्थान देने का उद्देश्य यह है कि तुलसी के पौधे का अधिक से अधिक रोपण किया जाये तथा उसका संरक्षण और संवर्धन हो। यहाँ यह स्वतः प्रतीत होता है कि हमारे ऋषि तुलसी के औषधीय गुणों से पूर्णतः परिचित थे। अतः उन्होंने इसे दैनिक धर्म–कर्म से जोड़कर संरक्षित किया। आज भी सम्पूर्ण भारत में शायद ही कोई ऐसा घर हो जो तुलसी का उपयोग दैनिक जीवन में ना करता हो। आक्सीजन से भरपूर व रोग प्रतिरोधक शक्ति से परिपूर्ण तुलसी को आज सभी वैज्ञानिक भी उतना महत्व प्रदान कर रहे हैं जितना प्राचीन समय में पुराणों में वर्णित था। पुराणों में वृक्षों में देवत्व की विकसित भावना का रूप प्राप्त होता है। पद्मपुराण के अनुसार वृक्षों में देवताओं के निवा की मान्यता

प्रचलित है। देवताओं के निवास के कारण वृक्षों का संरक्षण एवं पूजन पुण्य तथा उनका विनाश पाप माना गया है–

पुराकोलाहले युद्धे दानवैर्निर्जिताः सुराः।

वृक्षेषु विविशुस्तत्र सूक्ष्माप्राणपरीप्सया।।

तत्र विल्वे स्थित' शम्फुरश्वत्थे हरिरव्ययः।

शिरीषेडमूत्सहत्राक्षो निम्बे देवः प्रभाकरः।।

स तु तन्मयतां यातस्तस्मातं न विनाशयेत। (पद्मपुराण उत्तराखण्ड)

गरूण पुराण' के अनुसार कुंआ, बावड़ी, तालाब आदि का निर्माण करने से इक्कीस कुलों का उद्धार होता है एवं अंत में विष्णुलोक में प्रतिष्ठित होता है–

कूपवापीत डागादि–अस्यनिर्माणय भवेत।

त्रिसप्तकुलमुद्धप्य विष्णुलोके महीयते।। (गरूण पुराण 2.22)

पुराणों में पृथ्वी को विश्व की बहुमूल्य एवं दुर्लभ संसाधनों की निधि माना गया है। पृथ्वी के लिए बसुन्धरा, बसुधा आदि शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। जो अरण्यक औषधियों, वनस्पतियों, अन्न आदि को उत्पन्न करने वाली है।

ब्रह्मपुराण में कहा गया है कि पृथ्वी का जल सूर्य की रश्मियों (किरणों) के द्वारा ऊपर जाकर वर्षा के रूप में पुनः पृथ्वी पर बरसता है। पौराणिक साहित्य में वर्णन मिलता है कि कृषक सिंचाई के लिए मुख्य रूप से वर्षा पर ही निर्भर थे। अतः यज्ञों का संबंध भी कृषि से जोड़ा गया। समाज की यह मान्यता थी कि यज्ञ से वर्षा होती है वर्षा के अभाव में कृषि संभव नहीं। ''तत्कालीन ऋषि, महर्षि बारह– बारह वर्ष तक के यज्ञ आयोजित करते थे।''(ब्रह्म पुराण 1.1.2) नदियों में भरपूर जल होने से वे क्षेत्र कृषि उपयुक्त थे। (ब्रह्मपुराण, 187,35,38–40,4.6,5–6) वर्षा के अतिरिक्त नदियों, कुएँ, नहर, तालाब, सरोबर, जलाशय आदि जल प्राप्ति के अन्य साधन थे, जिनसे सिंचाई की जाती थी। इसीलिए प्राचीन नगर और गाँव नदी के दोनों तटों पर बसते थे, जिससे

''मदानदीति नाम्ना सा पुण्यतोया सदिदफवरां।

उमयोस्तटयोर्यस्या ग्रामाश्च नगराणि च ।।''

पौराणिक साहित्य में पर्यावरण की अवधारणा आज पर्यावरण प्रदूषण दूर करने में हमारा सहज ही मार्गदर्शन करती प्रतीत होती है। आज सम्पूर्ण विश्व उपभोक्तावादी संस्कृति की अंधी दौड़ में शामिल है। प्रगति के नाम पर अपने पर्यावरण को नष्ट करने पर ही तुला

है। पृथ्वी पर निरंतर वनों की कटाई, ताप, वृद्धि, जल, वायु प्रदूषण का संकट मानवीय अस्तित्व के साथ गहरा हुआ है। जीवन मूल्यों के विखराव ने मनुष्य को यंत्र का एक पुर्जा बनाकर रख दिया है। अत्यधिक भोगवृत्ति से मानवीय संवेदनायें समाप्ति की कगार पर है। प्रकृति का बेरोकटोक दोहन पर्यावरण प्रदूषण को बढ़ा रहा है। अतः आज आवश्यकता है कि भारतीय संस्कृति को सम्पूर्ण विश्व के लोग तार्किक रूप से समझने का प्रयास करें। धर्म, दर्शन व विज्ञान को एक–दूसरे के पूरक के रूप में कार्य करना होगा।

आज सनातन धर्म के मूल्यों को पुनः समाज में स्थापित कर आत्मसात करने की आवश्यता है। जब तक हम इशोपनिषद के श्लोक–**'ईशावासमिदं सर्वे'** के भाव से चराचर प्रकृति में भी उसी चेतना को व्याप्त नहीं मानेंगे तब तक हम अप्रत्यक्ष रूप से अपना ही नाश करते रहेंगे। भारतीय संस्कृति व धर्म ने सदैव जियो और जीने दो के सिद्धांत में विश्वास किया है। अतः हमें मन, वचन, कर्म से अहिंसा का पालन करना होगा तथा सम्पूर्ण पर्यावरण के प्रति सहअस्तित्व 'वसुधैवकुटुम्बकं' के भाव को समझना होगा। अपरिग्रह तथा अनावश्यक संग्रह व लालसाओं पर अंकुश लगाना होगा तभी वैज्ञानिक उन्नति के नाम पर संसाधनों की होड़ पर अंकुश लग पायेगा। वैज्ञानिक प्रगति महज बौद्धिकता पर निर्भर ना होकर मनवीयता को केन्द्र में रखकर की जाये। पर्यावरण संरक्षण के वैज्ञानिक उपाय अकेले पर्याप्त नहीं हैं।

पर्यावरण संरक्षण आंतरिक नैतिक आग्रह से संभव है। आत्म नियंत्रण ही हमारा अंकुश होगा। कानून से बलप्रयोग से व जबरदस्ती हम किसी व्यक्ति या समुदाय को सत्कार्य में प्रवृत्त नहीं कर सकते। भावना तथा अध्यात्म को भी इसमें स्थान देना होगा। 'सर्व खलुविदं ब्रह्म' का भाव जब जाग्रत होगा तो प्रतिद्वंद्विता का भाव स्वतः समाप्त हो जायेगा तभी हम भारतीय संस्कृति की पौराणिक पर्यावरणीय चेतना को हम सभी आत्मसात कर पायेंगे। जब तक मनुष्य में प्रकृति के लिये यह भाव उत्पन्न नहीं होता "माता भूमि पुत्रों हम पृथिव्या" तब तक पर्यावरण संरक्षण संभव नहीं हो सकेगा।

संदर्भ सूची :–

1. ज्वालाप्रसाद मिश्र–अष्टदश पुराण दर्पण वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई 1993
2. भास्करानंद लोहानी– पौराणिक साहित्य एवं संस्कृति,नजीराबाद लखनऊ 1963
3. बैकुण्ठ नाथ शर्मा–पुराण दिग्दर्शन,माधव पुस्तकालय धर्मधाम ए–103, कमला नगर दिल्ली 2014

4. पाण्डुरंग वामन काणे–धर्मशास्त्र का इतिहास खण्ड I-IV हिन्दी समिति,सूचना विभाग लखनऊ 1992,1996
5. अग्निपुराण–संपादक बलदेव उपाध्याय,चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी
6. बह्मपुराण–गायकवाड ओरिएन्टल सीरीज बड़ौदा 1941
7. शास्त्रों का इतिहास,आचार्यबलदेव उपाध्याय शारदा मंदिर वाराणसी

मानव जीवन में पुरूषार्थ की सार्थकता

दिवाकर महोबिया
शोध छात्र (दर्शन शास्त्र)
बरकतुल्लाह विश्वविद्यालय,भोपाल

हिन्दू संस्कृति में मानव आचरण को नियमित एवं संतुलित करने के उद्देश्य से पुरूषार्थ की अवधारणा को स्पष्ट किया गया है। वस्तुतः पुरूषार्थ को मात्र भारतीय या हिन्दू संस्कृति से जोड़ना उसकी महत्ता को सीमित करना है। उल्लेखनीय है कि पुरूषार्थ के अंतर्गत कमशः धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष की विस्तृत व्याख्या की गई है। पुरूषार्थ मानव जीवन के लक्ष्य का एक दूसरा नाम है। यह लक्ष्य नैतिकता का एक अत्यंत महत्वपूर्ण अंग होता है।[1]

भारतीय आध्यात्मिक चिन्तन जीवन मूल्यों का चिन्तन है। मानव जीवन को संयमित संगठित एवं लोक कल्याणकारी बनाने का प्रयास वैदिक काल से किया जाता रहा है। व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन को नियमित एवं विकासशील बनाये रखने के लिए जहाँ मनीषियों ने वर्णाश्रम व्यवस्था का अनुसंधान किया, वहीं जीवन के विभिन्न कालखण्डों की दृष्टि से पुरुषार्थ की अवधारणा जनसामान्य के समक्ष रखी। पुरुषार्थ जीवन मूल्यों को निर्धारित करते हैं। पुरुषार्थ मानव जीवन के लक्ष्यों को इस प्रकार निर्धारित करता है कि उनमें मनुष्य की व्यक्तिगत कामनाओं की पूर्ति, समाज की निरन्तर आवश्यकताओं और आध्यात्मिकता के परम लक्ष्य की समन्वित रूप से पूर्ति हो सके।[2]

पुरूषार्थ शब्द का अर्थ है विचारवान्, विवेकशील प्राणी लक्ष्य। पुरूषार्थ का अर्थ सांसारिक और पारलौकिक लक्ष्य और कर्त्तव्य है जिसमें नैतिक आत्मिक मनोशारीरिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों का भी समन्वय किया गया है। पुरुषार्थ के अन्तर्गत मनुष्य भौतिक सुखों का उपभोग करते हुए धर्म का भी समान रूप से अनुसरण करके मोक्ष का अधिकारी होता था। भारतीय धर्म तथा दर्शन में मोक्ष को मानव जीवन का सार्थक लक्ष्य बनाया जा सकता है।[3]

पुरूषार्थ के अन्तर्गत सर्वप्रथम धर्म पर दृष्टिपात करने पर हम पाते हैं कि धर्म व्यक्ति की अनेक रूचियों, इच्छाओं, आकांक्षाओं, आवश्यकताओं आदि के मध्य संतुलन बनाये रखता है। महाभारत के अनुसार धरम वही है जो किसी को कष्ट नही देता अपितु लोक कल्याण करता है। मनु के अनुसार धर्म के चार आधार हैं–श्रुति (वेद), स्मृति (धर्मशास्त्र), सदाचार तथा आत्मतुष्टि।[4]

वस्तुतः धर्म को दृष्टादृष्ट पुरूषार्थ माना गया है अर्थात् उसकी कुछ कियाओं को देखा जा सकता है किन्तु प्रतिकियाओं को नहीं देखा जा सकता। इस प्रकार केवल धर्म के मार्ग पर चलकर ही व्यक्ति संसार में तथा परलोक में शक्ति प्राप्त कर सकता है। मनु के अनुसार जो व्यक्ति धर्म का सम्मान करता है, धर्म सदैव उसकी रक्षा करता है। धर्म को साक्षात् ईश्वर के स्वरूप के रूप में स्वीकार किया गया है। ईश्वर ही धर्म की स्थापना करता है, संचालन तथा रक्षा करता है। धर्म मनुष्य के अन्तःकरण से संबंधित होता है जिसका पालन करके मनुष्य शुद्ध आचरण करता है तथा गुण और दोष का भेद करने में सक्षम होता है। धर्म के विविध रूप हैं जैसे—स्वधर्म, परधर्म, सामान्य धर्म तथा विशेष धर्म ध्यातव्य है कि उपनिषदकारों ने पुरूषार्थों के बताए गए मोक्ष को ही मानव जीवन का सर्वोच्च व अंतिम ध्येय माना है और अर्थ तथा काम के साथ—साथ धर्म को उसके साधनों के रूप में स्वीकार किया है।[5] इस प्रकार वेदों तथा उपनिषदों में बताए गए धर्म के मार्ग का अनुसरण करने पर व्यक्तिएवं समाज दोनों का पूर्ण और संतुलित विकास संभव है। इसी कारण सम्मिलित रूप से वेदों तथा उपनिषदों का उक्त व्यवहारिक एवं संतुलित नैतिक दर्शन किसी युग विशेष तक सीमित नहीं है अपितु मनुष्य के लिए उसकी सार्वभौमिक तथा सार्वकालिक उपादेयता है।[6]

धर्म के पश्चात् पुरूषार्थ में अर्थ का स्थान है वस्तुतः अर्थ का क्षेत्र धर्म से अधिक व्यापक है। हिन्दू धर्मशास्त्रकारों ने धन को पुरूषार्थ जीवन में स्थान देकर उसे उचित मानवीय आकांक्षा माना है जिसके जीवन में अर्थ नहीं वह अपने कर्त्तव्यों का समुचित पालन करने में सक्षम नहीं होता है। चाणक्य ने यह प्रतिपादित किया कि अर्थ धर्म का मूल है। पुनः वे कहते हैं कि अर्थ के बिना दान संभव नहीं है तथा इसके अभाव में मनुष्य अपनी महात्वाकांक्षाओं की पूर्ति नहीं कर सकता। महाभारत में कहा गया है कि उच्चतम धर्म है, प्रत्येक वस्तु उस पर निर्भर करती है। अर्थ सम्पन्न लोग सुख से रहते हैं अर्थ रहित लोग मृत के समान हैं किसी एक के धन का क्षय करते हुए उसके त्रिवर्ग को प्रभावित किया जा सकता है।[7]

नीति शतक के अनुसार धनी व्यक्ति अच्छे कुल और उच्च स्थिति का माना जाता है। वह पण्डित, ,देवज्ञ, वक्ता, गुणन तथा दर्शनीय माना जाता है अतः धन में सभी गुण समाहित होते हैं। आचार्य वृहस्पति के अनुसार अर्थ सम्पन्न व्यक्ति के पास मित्र, धर्म, विद्या, गुण क्या नहीं होता ? दूसरी ओर अर्थहीन व्यक्ति मृतक के समान होता है। इस प्रकार अर्थ

ही संसार का मूल है।[8]इस प्रकार धर्म शास्त्रों की सम्मति है कि अर्थ संचय धार्मिक आधार पर होना चाहिए तथा अनैतिक व अधार्मिक साधनों से अर्जित धन दुःखद और निन्दनीय होता है।

धर्म तथा अर्थ के पश्चात् एक महत्वपूर्ण पुरूषार्थ के रूप में काम को स्वीकार किया गया है। भारतीय धर्म दर्शन में प्रतिपादित किया गया है कि 'काम' का प्रमुख लक्ष्य सन्तोन्तपत्ति व वंशवृद्धि करना है। काम का सर्वोच्च और आध्यात्मिक ध्येय पति–पत्नि में आध्यात्मिकता, मानव विकास करना है। काम शब्द से कला सम्बन्धी भाव, विलास, ऐश्वर्य तथा कामनाओं का भी बोध होता है। काम जीवन का प्रमुख अंग है किन्तु इसका अतिरेक भयंकर दुर्गुण है। काम के वशीभूत होकर धर्म को नहीं छोड़ना चाहिए।[9] कौटिल्य ने काम को अंतिम श्रेणी में रखते हुए, धर्म अर्थ को बिना बाधा पहुँचाए इसके पालन का निर्देश दिया है।[10] महाभारत के अनुसार जो व्यक्ति धर्म रहित काम का अनुसरण करता है, वह अपनी बुद्धि को समाप्त कर देता है। गीता में कहा गया है कि काम व्यक्ति में बुद्धि नहीं होती पुरूषार्थ के लिए वुद्धि विवके वांछनीय है, इन्द्रियाँ जिसके वश में होती हैं उसकी वुद्धि स्थिर होती है। काम की आलोचना करते हुए कहा गया है कि विषयों के बारे में सदैव सोचने से विषयों के प्रति रूचि बढ़ती है। इससे काम, वासना का जन्म होता है, काम तृप्ति न होने से क्रोध और क्रोध से मोह उत्पन्न होता है मोह अविवेक का प्रतिरूप है। इससे स्मृतिभ्रम, स्मृतिभ्रम से बुद्धिनाश और वुद्धिनाश से व्यक्ति का नाश होता है।[11] इसलिए काम पर अंकुश रखने के लिए उसे धर्म के आवरण में लिप्त किया गया तथा काम की अतिवादिता को अवरूद्ध करने के लिए उस पर धर्म का अंकुश लगाया गया।

उपरोक्त तीन पुरूषार्थों की अवधारणा को वैदिक काल के प्रारंभ में देखा जा सकता है। ध्यातव्य है कि प्रारंभिक वैदिक काल में चार पुरूषार्थों की अवधारणा थी ही नहीं। उस समय आर्य सौ वर्षों तक जीकर अधिकाधिक सांसारिक सुख का उपयोग कर मृत्यु के बाद स्वर्ग जाकर सुखों का उपभोग ही करना चाहते थे और इस प्रकार का सुखोपभोग तप, दान, ऋतानुपालन जैसे अच्छे कार्यों को करने से संभव हो जाता था। जो व्यक्ति ऐसे कार्यो का निष्पादन नहीं करता था, उसे मृत्यु के बाद सुखोपभोग का अवसर ही नहीं मिलता था। इस संबंध में डॉ. राधाकृष्णन लिखते हैं–'वेद और ब्राह्मण' में अंतर यह है कि जहाँ ऋग्वेद के अनुसार पापी मृत्यु पाकर पूरी तरह नष्ट हो जाता है और पुण्यवान अमृत्व को प्राप्त कर लेता है, वहीं ब्राह्मण ग्रंथों के अनुसार पापी और पुण्यवान दोनों ही अपने–अपने

कर्मों के फल को भोगने के लिए जन्म ले लेते हैं।[12] शतपथ ब्राह्मण कहता है–'कृतं लोकं पुरूषोऽभिजायते' अर्थात् पुरूष अपने लिए बनाये हुए लोक में जन्म लेता है।

इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि उस काल में तीन ही तरह के पुरूषार्थ माने जा सकते थे, अर्थ, 'अमृतत्व की प्राप्ति। इसे त्रिवर्ग कहा जाता था। रामायण काल में भी पुरूषार्थ त्रिवर्गात्मक ही था। तारापाद चौधरी कहते हैं 'ऐसे उद्देश्य जो मानव कियाओं को प्रेरित करते हैं,' और जिनकी पूर्ति के लिए मनुष्य को प्रेरित होना चाहिए रामायण के अनुसार संख्या में तीन हैं और ये समग्र रूप से त्रिवर्ग कहलाते हैं। ये हैं– धर्म (नैतिक गुण), अर्थ (धन या भौतिक सुविधा) तथा काम (वासना की तृप्ति या सुख) इनमें धर्म सर्वोपरि है और अन्य दो इसके अधीन हैं।' मनु स्मृति के अनुसार भी मानव जीवन के तीन ही लक्ष्य हैं– अर्थ, काम और धर्म। इस प्रकार वैदिक काल में लोग सौ वर्षों तक जीकर अधिकाधिक ऐन्द्रिक सुखोपभोग को जीवन का अभीष्ट मानते थे और मृत्यु के बाद भी स्वर्गलोक में जाकर सुखों का ही उपभोग करना चाहते थे।

पुरूषार्थ में उपरोक्त त्रिवर्ग की अवधारणा को स्पष्ट करने के पश्चात् अंतिम पुरूषार्थ 'मोक्ष' की व्याख्या करना अनिवार्य हो जाता है। यद्यपि वैदिक काल में चार पुरूषार्थों का उदय हो चुका था, किन्तु उसी समय अर्थ, काम तथा धर्म की प्रधानता रही और मोक्ष को अधिक महत्व नहीं दिया गया। परन्तु मानव जीवन के चार आश्रमों तथा पुरूषार्थों के सिद्धांतों को स्वीकार करते हुए भी उपनिषदों ने मोक्ष और सन्यास को सर्वाधिक महत्व दिया। उपनिषद्कारों ने मुक्ति अथवा मोक्ष को ही मानव जीवन का अंतिम तथा सर्वोच्च ध्येय माना है और अर्थ, काम तथा धर्म को उसके साधन के रूप में स्वीकार किया। उनके मतानुसार सांसारिक दुःखों तथा वन्धनों और जन्म–मरण के चक से मुक्त होकर जीवन का नित्य एवं शाश्वत ब्रह्म में विलीन हो जाना अथवा उसके साथ पूर्ण तादात्मय स्थापित कर लेना ही मोक्ष है और यही मनुष्य के जीवन का अंतिम लक्ष्य है। अहिंसा, सत्य, दान दया और नम्रता, आत्म त्याग, इन्द्रिय निग्रह आदि समस्त नैतिक सद्‌गुण इसी मोक्ष प्राप्ति के साधन हैं। मोक्ष प्राप्त करने के लिए इच्छाओं तथा कामनाओं का पूर्ण त्याग करना अथवा दमन करना अनिवार्य है। इस प्रकार उपनिषद्कारों ने तीन पुरूषार्थों धर्म, अर्थ तथा काम को आवश्यक माना है फिर भी उन्होंने मोक्ष का स्थान दिया है।[13]

मनु के अनुसार तीन ऋणों देवऋण और पितृ ऋण को पूरा करके ही मनको मोक्ष में लगाना चाहिए। इन ऋणों का शोधन किये बिना मोक्ष का सेवन करने वाला नरकगामी

होता है।[14] मनुस्मृति के ही अनुसार मोक्ष की प्राप्ति में संलग्न व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि वह वेदों का ज्ञान प्राप्त करे, धर्मानुसार पुत्रों को उत्पन्न करे, यज्ञों का अनुष्ठान करें और तब मोक्ष का निवेदन करें। पुराणों में इसी अवस्था का प्रतिपादन किया गया है। वायु पुराण के अनुसार अंतिम आश्रम का अनुगामी व्यक्ति, शुभ और अशुभ कर्मों का परित्याग करके, जब अपना स्थूल शरीर छोड़ता है तब वह जन्म और मृत्यु तथा पुनर्जन्म से पूर्णतः मुक्त हो जाता है।[15] पुनः मनु के अनुसार इन्द्रिय विरोधी रागद्वेष का त्यागी और अहिंसा में लगा हुआ व्यक्ति ही मोक्ष के योग्य है। मोक्ष प्राप्ति के लिए विशुद्ध चरित्र आवश्यक है क्योंकि इन्द्रियां मन को भ्रमित और उद्वेलित करती हैं अतः इन्द्रियनिरोध और आसक्तहीन भी मोक्षार्थी व्यक्ति के आवश्यक गुण माने गये हैं। विष्णु पुराण के अनुसार मोक्षार्थी व्यक्ति को शत्रु–मित्र से समभाव रखते हुये किसी भी जीव के प्रति दोह नहीं करना चाहिये और लोभ, मोह, काम और दम्भ को पूर्णतया त्याग देना चाहिए।

उपरोक्त उल्लिखित चारों पुरूषार्थों में पदसेपान की दृष्टि से धर्म को सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। वस्तुतः मोक्ष से धर्म का प्रत्यक्ष संबंध है। धर्मशास्त्रों के अनुसार त्रिवर्ग का सेवन करता हुआ व्यक्ति मोक्ष की प्राप्ति करता है। श्रीमद् भगवद्गीता में कहा गया है कि **'धर्मविरूद्धोभूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ'** अर्थात् जो धर्मपूर्ण काम का सेवन हे उसमें ईश्वर विद्यमान रहता है। पुरूषार्थ के महत्व को स्पष्ट करते हुये कहा जा सकता है कि यह संस्था निर्दिष्ट जीवन को प्राप्त करने के लिए एक साधन व्यवस्था है।

मानव जीवन के सर्वांगीण विकास के लिए पुरूषार्थ व्यक्तिगत, भौतिक सामाजिक एवं आध्यात्मिक जीवन के बीच सम्यक् समन्वय स्थापित करता है। मानव जीवन के चरम लक्ष्य व उच्चतम आदर्शों की प्राप्ति की दिशा में पुरूषार्थ मार्गदर्शन करता है। यह मानव व्यक्तित्व और समाज के निर्माण का आधार है।

संदर्भ सूची :–

(1) मिश्र प्रो.नित्यानन्द, नीतीशास्त्र (सिद्धांत तथा प्रयोग), मोतीलाल बनारसीदास।

(2) पृ. 276, शाक्य डॉ. जे.पी.भारतीय, नीति शास्त्र, अशोक प्रकाशन, आगरा।

(3) पृ. 296, सिंह डॉ. शिव भानु, समाज दर्शन का सर्वेक्षण,शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद।

(4) पृ. 216, 12, मनु स्मृति।

(5) पृ. 98–99, दिनकर डॉ. रामधारी सिंह, संस्कृति के चार अध्याय।

(6) पृ. 341, वर्मा वेद प्रकाश, नीति शास्त्र के मूल सिद्धांत, चतुर्थ संस्करण, ऍलाइड पब्लिशर्स,

प्राईवेट लिमिटेड

(7) पृ. 72/23–4 महाभारत, उद्योग पर्व

(8) पृ. 6/7–12, ब्रहस्पति सूत्र

(9) पृ. 5/63 महाभारत स्वर्गारोहण

(10) पृ. 1/17, धर्मर्शनिरोधेन काम सेवेत्– कौटिल्य अर्थशास्त्र

(11) पृ. 2/62–63, गीता

(12) पृ. 419, मिश्रा प्रो. नित्यानन्द,नीतीशास्त्र (सिद्धांत तथा प्रयोग), मोतीलाल बनारसीदास।

(13) पृ. 339 वर्मा वेद प्रकाश

(14) पृ.. 6/35 मनुस्मृति

(15) पृ. 1/7/17 वायु पुराण

(16) पृ. 7/17 गीता

व्यक्तित्व विकास एवं नैतिक मूल्य

देवदास साकेत
शोधार्थी–दर्शनशास्त्र
विक्रम विश्वविद्यालय,उज्जैन (म.प्र.)

व्यक्तित्व प्रायः मानव व्यवहार पर निर्भर करता है। मानव व्यवहार व्यक्ति की आन्तरिक शक्ति पर निहित है। व्यक्तित्व समाज में रहने वाले और नहीं रहने वाले दोनों में पाये जाते हैं किन्तु दोनों में भेद पाया जाता है। इन्ही व्यक्तित्वों के कारण नैतिक मूल्यों का विकास होता है। व्यक्तित्व के संदर्भ में ऋषि मुनियों का व्यक्तित्व समाज से अलग होने वनवासी जीवन जीने पर भी महान् रहा है। यह भारतीय संस्कृति और सभ्यता का एक बहुत बड़ा उदाहरण है। चाहे आचार्य शुक्र का जीवन हो या आचार्य चाणक्य का हो। आचार्य चाणक्य ने नीति मूल्यों के आधार पर शिक्षित कर सम्राट चन्द्रगुप्त का व्यक्तित्व राष्ट्र के सफल संचालन का एक उदाहरण है। ऋषि परम्परा में नैतिक मूल्यों के लि जीवन दर्शन का अध्ययन का एक प्रमाण माना गया है। जिसके आधार पर मनोवैज्ञानिकों के कुछ तथ्य भी सामने आते हैं जो इस प्रकार हैं–'व्यक्तित्व को रूढ़ियो, पूर्वाग्रह एवं अन्धविश्वास भी प्रभावित करते हैं, इसलिए व्यक्तित्व की व्याख्या के लिए रूढ़ियों एवं अन्धविश्वासों का व्यक्तित्व पर पड़ने वाले प्रभावों का अध्ययनकिया जाता है।'[1] व्यक्तित्व मानव के चरित्र या नैतिकता का भी एक रूप है। चरित्र का उत्कृष्ट होने पर समाज में बुरे व्यक्तित्व वाला माना जाता है।

व्यक्तित्व के प्रति समाजशास्त्रियों का भी अपना एक दृष्टिकोण है। जिसमें व्यक्ति के नैतिक तथा सामाजिक समुदायों का सुगठित संगठन व्यक्तित्व कहलाता है। जिसके व्यक्तित्व की परख रोजमर्रा के जिन्दगी में कार्य करने वाले स्थानों पर आपसी बातचीत के दौरान होती है। व्यक्तित्व की रचना मनुष्य के एकत्रित सांस्कृतिक कार्यों, संगठन, जन्म उत्सव, मृत संस्कार इत्यादि पर बाह्य व्यक्तित्व के रूप में भी होती है। क्योंकि मनुष्य के विचारों के आदान–प्रदान से मनोभावों की दशा और आचरण की परख होती है। आचरण का प्रभाव मनोभाव के मिलने वाले दूसरे व्यक्तियों पर पड़ता है। इसी से व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास एवं नैतिक मूल्यों का निर्माण होता है। 'व्यक्तित्व का सामान्य प्रचलित अर्थ व्यक्ति के मात्र शारीरिक गठन यथा रूप–रंग, नाक–नक्श और चाल–ढ़ाल को ही महत्व देता है, किन्तु यह व्यक्तित्व का एक पक्ष बाह्य ही है। इसमें आन्तरिक पक्ष के गुण,

विचार, मूल्य, आचरण, विश्वास आदि सम्मिलित नहीं होते।[6] यदि हम धनवान व्यक्ति को ही सब कुछ मान लेता है। उसके आगे सब झुक जाते हैं वही समाज का सबसे बड़ा अधिकारी पुरुष हो जाता है। जबकि भारतीय ऋषि परम्परा इस प्रकार के भौतिकवादी विचारधारा को मानने वाले धनी को तुच्छ समझते है।। आत्मज्ञान द्वारा प्राप्त सुखको ही सर्वोत्कृष्ट मूल्य समझते हैं।[7] इसका अर्थ यह है कि भौतिकवादी युग के आधुनिक व्यक्तियों की संवेदना सुख भोग और ऐश्वर्य के लोभ में फँसा है किन्तु इससे भी संतुष्ट नहीं है। इससे भी उसे दुःख का अनुमान हो रहा है। अधिक धन से चोरी का दुःख, मद, मस्ती का गुमान, अहंकार के बीजों के उत्पन्न होने का दुःख, समाज के मूल्यों को छोड़ने का दुःख इत्यादि दुःखों के कारण मनुष्य दुःख का भागी है। क्योंकि मन को अच्छे न लगने वाले सभी संस्कार भी दुःख पूर्ण हैं।[8] जिसके संबंध में गौतम बुद्ध कहते हैं कि यह संसार दुःखमय है।

मायां तु प्रकृति विद्यान्मयिनं तु महेश्वरम्।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्।।
यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको यस्मिन्निदं सं च वि चैति सर्वम्।
तमीशानं वरदं देवमीड्यं निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति।[9] उपनिषद पृ.71

माया तो प्रकृति के गुण हैं। ईश्वर को माया कास गुणी समझना चाहिए। इसी प्रकृति के काय समुदाय के रूप में सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त है। कोई भी हो वह स्वयं एक ही योनि का अधिकारी है। जिससे सम्पूर्ण जगत् प्रलय काल की कोठरी में समा जाता है। जिसमें सर्वगुण सम्पन्न और त्रिकाल बाधित होते हुए मनुष्य को तत्व ज्ञान के गुणों का ज्ञान प्रकृति प्राप्त करती है। जिससे व्यक्ति को मुक्ति और शान्ति मिलती है।

न चात्मदृष्टिः स्वयमात्मलक्षणा न चापित दुःसंस्थितता विलक्षणा।
द्वयात्र चान्यद् भ्रम एष तूदिततस्ततश्च मोक्षो भ्रममात्रसंक्षयः।[10]

महायानसूत्रालंकार पृ. 25

इसी कारण असङ्ग से पूछने की चेष्टा करते हैं कि इस संसार में लोग आत्मदर्शन के नाम पर दिग्भ्रमित क्यों हैं ? यह समझते क्यों नहीं कि दुःख अन्ततः प्रकृति के संस्कारों में सतत् प्रवाहमान है। जो व्यक्ति दु:ख की संवेदना को अभिव्यक्ति नहीं करता व दुःखी है। वह दुःखी है क्योंकि दृःख के स्वभाव के ज्ञान से परिचित नहीं है। जिसमें अर्न्तवेदक की आवाज के दुःखों से दुखी है। वह अनुभव भी दुःखी है। जो दुःखी नहीं है वह दुःख युक्त

आत्मा का अभाव है। ऐसी स्थिति में नैतिक मूल्यों को देखने के लिए व्यक्ति प्रतीत्यसमुत्पाद के प्रत्यक्ष को देखने की कोशिश करता है। क्योंकि उसके प्रत्ययवश मानवीय मूल्यों का भाव अनाकारिक के रूप में उत्पन्न होता है। इस प्रकार की दृष्टि क्यों उत्पन्न होती है ? जिसकी दिव्यदृष्टि दूसरी ओर कारित रूप में दिखाई देती है। उसे प्रतीत्यसमुत्पन्न नही दिखाई देता है। यह अज्ञान का कौन सा प्रकार है ? जिससे लोगों का `स्वयं की चेतनशक्ति के मूल्यों को पहचानने में प्रतीत्यसमुत्पाद नहीं दिखाई देता है। उसके बदले में अविद्यमान आत्म को देखते हैं। फिर यहाँ पर यही प्रश्न उत्पन्न होता है कि शायद अहंकारवश तो विद्यमान को न देखा जा सकता हो। इसका उत्तर ही ज्ञान चक्षुओं के द्वारा मनुष्य आत्म दर्शन करने की शक्ति ही मानवीय मूल्यों को खोजती है। जिसका मूल मनुष्य की चेतना शक्ति है।

नैतिक मूल्य व्यक्ति के व्यक्तित्व को परखने के लिए याज्ञवल्क्य के आज्ञानुसार "आओ में तुम्हारे और दूसरी पत्नी के बीच संपत्ति का बँटवारा कर दूँ।" तत्क्षण मैत्रेयी ने उत्तर दिया कि क्या मैं धन पाकर अमर हो जाऊँगा। यदि संपत्ति से व्यक्ति अमर नहीं होता है तब वह संपत्ति व्यर्थ है। इस संसार में मानवीय मूल्यों को पहचानने वाले व्यक्ति है। जिस प्रकार से मैत्रेयी ने जीवन के नाशवान भौतिक पदार्थ को मूल्य (धन) से नहीं तोला है। मूल्य को किसी धर्म के तराजू से ही तौला जा सकता है। न कि अधर्म की तराजू से। उसी प्रकार दूसरा उदाहरण यम के कहने पर नचिकेता ने आत्मिक प्रलोभन को त्याग कर कहते हैं कि "राज्य, ऐयवर्य, स्त्रियों और यौवन सब नाशवान् हैं,"[12] मुझे यह सब कुछ भी नहीं चाहिए। सिर्फ आप हमें ज्ञान का मार्ग प्रशस्त करें। जिससे व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास सम्भव है। इन्हीं ज्ञान रूपी गंगा के प्रवाह जैसे व्यक्ति के नैतिक मूल्य भी पहचान किये जाते हैं। मानव में नैतिक मूल्यों के सृजन की प्रगाढ़ शक्ति पाई जाती है। जिसमें मानवीय मूल्य निहित होते हैं। उसे ही समाज महापुरूष के रूप में देखता है। ऐसे महापुरूषों के व्यक्तित्व को सार्वकालिक रूप से शिक्षा को समुदाय के बीच में देता है। इन मूल्यों को परखने की बजह व्यक्तियों से भिन्न प्रवृत्ति होने से पहचान होती है। धर्म रूपी निष्ठा का विद्यमान होना भी मानवीय मूल्यों की पहचान कराता है। जिससे समाज के प्रत्येक व्यक्ति के लिए विशेष अहमियत नैतिक मूल्य की है। जो शुभ की श्रेणी में रखा जाता है। प्रोफेसर छायाराय ने अनेक चिन्तकों के सन्दर्भ को नैतिक मूल्यों के रूप में परिभाषित किये हैं। "सत्य, नैतिक श्रेष्ठता, सौन्दर्य, संस्कृति, ज्ञान आदि का समन्वयात्मक

ऐक्य है। चिन्तकों का दूसरा वर्ग पृथक–पृथक मूल्यों को आभ्यांतरिक शुभ मानता है।'[13] नैतिक मूल्य व्यक्ति की आन्तरिकता को उभारने के प्रयास करती है। जिससे मानव के व्यक्तित्व पर सीधा प्रभाव दिखाई देता है। व्यक्ति की आन्तरिकता में कपट, छल भरा होगा। वहाँ पर उस नैतिक मूल्यों को निकालने में बाधा महसूस करेगा। वहीं बाधा उसे जीवन के मूल्यों से नष्ट करने में कदम उठाती है।

विगृहीतश्चेत् 'प्रकृतया लुब्धक्षीणापररिताः विग्रहोद्विग्ना वा मां नोपगच्छन्ति' इति पश्येत्। ज्यायानाापि सन्धीयेत्, विग्रहोद्वेगं वा शमयेत्। 'व्यसनयौगपद्ये गुरूव्यसनोऽस्मि लघुव्यसनः परः सुखोन प्रतिकृत्य व्यसनमात्मनोऽभ्युिज्यात् इतिपश्येत। ज्यायानपि सन्धीयेत्। [14] कौटिल्य अर्थशास्त्रम् पृ.101,102 अ.3 श्लोक 3 पृ.452

आचार्य कौटिल्य का मत है कि अधिक धन, बल से सम्पन्न विजिगीषु , निर्बल राजा के साथ सम्बन्ध स्थापित करने के दौरान यदि मंत्री चरित्रहीन, लोभी, लालची, मद में डूबा रहने वाला हो, जिस कारण वह राजा से अनुराग न रखता हो। ऐसी स्थिति में व्यक्ति को संधि कर लेना चाहिए। जिससे इस प्रकार फैल रही अशांति को कम किया जा सकता है। किन्तु व्यक्ति के पास जब आपत्ति आ जाये उसके दुश्मन पर भी आपत्ति आ जाये उसके दुश्मन पर भी आपत्ति हो ऐसी दशा में शत्रु से भी मित्रता करने का प्रयास करना चाहिए। इससे भी बात नहीं बनती तब डटकर मुकाबला करना चाहिए। जिससे प्रजा की रक्षा का प्रश्न उठता है। इन मूल्यों को आचार्य कौटिल्य ने कहा कि सदगुण पूर्ण विचारों से शक्ति उत्पन्न होती है। इस प्रकार दूसरे राष्ट्रों की शक्ति को पहचान कर भेद नीति का प्रयोग करना चाहिए। इससे राष्ट्र के शान्ति और अशांति का समाचार प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार की नीति के प्रयोग करने से दूसरे राष्ट्र के प्रमुख का व्यक्तित्व पता चल जाता है। वह हमारे राष्ट्र के प्रति किस प्रकार की नीति का प्रयोग कर रहा है। जिस प्रकार चीन और पाकिस्तान के व्यक्तित्व को भारत और अन्य देशों ने पहचान लिया।

इसी प्रकार भारतीय संस्कृति के मूल्यों में अहिंसा सबसे सर्वोपरि है। क्योंकि गांधी जी पशुबलि, हथियार,, तोप, गोला–बारूद, बम की जगह शस्त्र के रूप में अहिंसा का प्रयोग करते हैं।[15] भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में होने वो हिंसा के लिए सबसे बड़ा मूल्य अहिंसा माना गया है। क्योंकि व्यक्ति के लिए मोक्ष का मार्ग स्वदेश और मानवता की सेवा से ही प्राप्त किया जा सकता है। वास्तव में आज के राजनैतिक धरातल के मूल्यों को देखकर अनेक प्रश्न सामने आते हैं। जिससे अनेक कठिनाईयाँ उत्पन्न हो रही हैं।

सन्धिविग्रहासनयानद्वैधीभावः षाड्गुण्यमित्यशचार्याः।[16] कौटिल्य अर्थशास्त्र पृ.453

आचार्य कौटिल्य की नीति ने छः गुणों की व्याख्या करते हैं संधि, विगह, यान, आन, संश्रय एवं द्वैधीभाव की नीति उस समय स्वच्छ नीति के रूप में राष्ट्र कल्याण के लिए प्रयोग किया जाता था। स्वयं का कोई स्वार्थ नहीं होता था किन्तु आज की राजनीति प्रपंच के रूप में मानी जाती है। जिससे समा, दान, दण्ड, भेद जिसमें झूठ, छल, ईर्ष्या, दाव–पेंच, मिथ्या भाषण के साथ अनेक दुर्गुण असत्य रूप से राजनीति से समाहित हैं। राजनीति की *शक्ति दिनों–दिन व्यापकता का रूप लेती जा रही है। यहाँ तक कि असंख्य लोगों का* भाग्य वर्तमान में राजनीति के हाथों पर निर्भर है। जबकि राननीतिक ढ़ाँचा छल, ईर्ष्या, द्वेषु, कपट और झूठे वादों पर आधारित है। यह कड़वा सच और विचित्र प्रश्न है कि कोई व्यक्तिगत जीवन के शाश्वत मूल्यों के लिए झूठ बोले तो उसकी आलोचना प्रत्येक व्यक्ति करता है। जबकि इसके ठीक विपरीत में राजनीतिक मंचों में खुले आम झूठ बोलने वालों का स्वागत प्रत्येक जनता आँख खोलकर करती है। क्या यह सत्य है ? इसी के सम्बन्ध में कवित्व के धनी रामधारी सिंह दिनकर कहते हैं कि "राजनीति में राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय मंच से झूठ बोलने वाले राजपुरुष का स्वागत तुमुल करतल–ध्वनि से किया जाता है। यह मनुष्यता के घोर पतन का दृष्टान्त है।"[17] इन तथ्यों से यह साबित होता है कि जब तक राजनैतिक ढाँचा दुर्व्यवहार कर प्रचलित होगा। विश्वैकता के कल्याण की कल्पना एक कोरी कल्पना ही रहेगी।

इसके विपरीत विज्ञान अपनी शक्तियों के प्रयोग से व्यक्ति को हानि पहुँचाता ही जायेगा। इसीलिए महात्मा विदुर ने धर्म का जीवन व्यापक बनाकर विश्व के सामने धर्म नीति का प्रस्ताव रखा। यहाँ तक कहते हैं कि राजनीति और अर्थनीति धर्म और आचारण शास्त्र के आवश्यक अंग हैं। जिस मानवीय मूल्यों को व्यक्तित्व विकास के लिए उपयोगी समझा गया है। वह राजनीति अर्थ के साथ अधिकार संचय के साधन ही नहीं हैं। यह तो मानवीय मूल्यों का उच्चतर दिशा
में ले जाने का मार्ग है। व्यक्ति के आचरण को सुख के पारस्परिक सम्बन्धों को स्थापित करने का साधन है।

एकया द्वे विनिश्चित्य त्रींश्चतुर्भिर्वशे कुरू।

पंच जित्वा विदित्वा षट् सप्त हित्वा सुखी भव।।[18] विदुर नीति अ.1 श्लोक 49,पृ. 26

मानव को एक वुद्धि के बल पर दो कार्य करना चाहिए। पहला कर्त्तव्य दूसरा अकर्त्तव्यों का निश्चय करने के बाद ही साम, दान,, दण्ड, भेद का प्रयोग करना चाहिए। इसके साथ तीन बातों को शत्रु, मित्र और उदासीन को भी अपने वेश में रखना चाहिए। ये निर्णय कर्त्तव्य और अकर्त्तव्यों के पाँच इन्द्रियों को धर्म के बल पर जीतकर छः गुणों का स्मरण करना चाहिए। सन्धि, विग्रह, यान, असान द्वैधीभाव, समाश्रयरूप इन गुणों का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। इसके अतिरिक्त अन्य सात बातों को जैसे–पराई स्त्री, जुआ, मृगया, मद्य, दण्ड की कठोरता, कर्कश वाणी, चोरी का धन (बिना परिश्रम के धन) को स्वीकार नहीं करना चाहिए। मानव चरित्र के साथ धर्म का आचरण करता है। वह हमेशा सुखी रहता है। महात्मा विदुर राजनीति के छल–प्रपंच का आधार न होर मानव के धर्माचरण का असर ही श्रेष्ठ है। किन्तु उसका उद्देश्य मानवीय मूल्यों के धरातल को उन्नति पूर्ण बनाने में है। जिससे मनुष्य के बीच स्वतन्त्रता और बन्धुत्व की भावना जीवित रहे। राजनीति व्यंग का पात्र समझी जाती है। किन्तु इसे यदि स्वच्छ रूप से राष्ट्र कल्याण के लिए प्रयोग किया जायेगा। उससे सामाजिक सामंजस्य पूर्णतः मजबूत रहेंगे। अनैतिकता के बीच नैतिकता को स्थापित करने की विधि का नाम राजनीति है। इसी से नेता नायक के नैतिक मूल्यों और व्यक्तित्व विकास की पहचान सम्भव है। अन्यथा जिस प्रकार से मनुष्य का मृत शव जलाने के बार राख (धूल) बचती है। उसी प्रकार अनैतिक आचरण से राजनीति का प्रयोग करने पर राख ही बचती है। इसके अलावा सब कुछ जलकर खाक (नष्ट) हो जाता है। यह भारतीय दृष्टान्त का मुख्य उदाहरण है। जिस प्रकार से महाभारत में कौरव, रामायण में रावण, चाणक्य और चन्द्रगुप्त में नंद, वर्तमान में निकृष्ठ साधु संत आदि के अनेकों उदाहरण भारतीय संस्कृति के पास उपलब्ध हैं। किन्तु नैतिक मूल्यों के सम्बन्ध में भारतीय ऋषियों और पाश्चात्य दार्शनिकों ने भी चिन्तन किया है। "भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार आचारशास्त्र दर्शन का कियात्मक पहलू है। दर्शनशास्त्र हमें सैद्धान्तिक ज्ञान कराता है तो आचारशास्त्र शुभ और अशुभ का निर्णय कराता है।"[19] जिस प्रकार से कोई व्यक्ति कार्य करता है। उसकी सराहना भी अच्छे कार्यो से होती है। किन्तु काण्ट कहते हैं कि शुभ अपने आप में ही है। यह किसी की अपेक्षा नहीं रखता। शुभ के सन्दर्भ में काण्ट का मानना है कि डॉक्टर एक मरीज का ऑपरेशन करता है। जिससे उस गरीब को दुःख दर्द होता है। इसका मतलब यह नहीं कि उसे डॉक्टर दुःख पहुँचा रहा है। उसका उद्देश्य दुःख पहुँचाना नहीं बल्कि उसके स्वास्थ्य को ठीक करता है। एक शिकारी शिकार के

लिए जंगल जाता है। जहाँ पर शेर एक व्यक्ति पर आक्रमण करता है। शिकारी ने उस व्यक्ति की रक्षा हेतु गोली चलाता है। किन्तु गोली शेर को न लगकर उसी व्यक्ति को लग जाती है। उस व्यक्ति को गोली लगने से मृत्यु हो जाती है। इस सम्बन्ध में एक दूरदर्शी चिन्तक को उस शिकारी के उद्देश्य को देखना चाहिए। जिस शिकारी ने गोली चलाई थी। क्योंकि शिकारी का उद्देश्य शुभ था। इसलिए इसे नैतिक कहा जाता है। अनैतिक नहीं। इसी प्रकार प्रत्येक जीव भी सुख ही चाहता है। इसलिए मनुष्य के औरों को भी दुःख नहीं पहुँचाना चाहिए। जिस प्रकार चार्वाक का सिद्धान्त पाश्चात्य दार्शनिकों से मेल खाता है। क्योंकि चार्वाक भी सुखवादी दार्शनिक हैं।

यावज्जीवत्सुखं जीवेदृणं कृत्वा घृतं पिबेत।

भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।।[20] सार्वदर्शन संग्रह पृ. 21

इसका कथन ही है कि जब तक जियों सुख से जियों चाहे ऋण लेकर घी पीना पड़े। क्योंकि मरने के बाद शरीर फिर संसार में कैसे आ सकता है। सिर्फ भस्म ही बचती है। वह संसार में ऋण चुकता करने के लिए कैसे आ सकता है। जबकि इसके विपरीत पाश्चात्य दार्शनिक बटलर ने अन्तवोध के सिद्धान्त को स्वीकार करके स्वार्थवाद के सिद्धान्त का खण्डन करते हुए भौतिकवाद से मुड़कर अध्यात्मवाद की छाया में प्रवेश करता है।

स त्वमर्थं संशयितं विना तैराशंससे पुत्रवंशानुगोऽस्य।

अधर्मशब्दश्च महान् पृथिव्यां नेदं कर्म त्वत्समं भारताग्रय।।[21]

महाभारत के उद्योग पर्व से 32.17,110

हे भारतवंशीय महाराज धृतराष्ट्र आप पुत्रों को न समझा सकने की दशा में आप उनके वश में होकर पाण्डवों के सम्पूर्ण हिस्से को हड़पना चाहते हैं। इस कार्य में आप सफल नहीं हो सकते हैं। यह आपका धर्म नहीं ऐसा करने के कारण सम्पूर्ण संसार में आपकी अतिशय घोर निन्दाऔर अपमान हो रहा है। महाराज धृतराष्ट्र के मंत्री संजय को अपने राजा को इस तरह का परामर्श देना उनका स्वतंत्र व्यक्तित्व है और महाराज धृतराष्ट्र द्वारा चुपचाप सुन लेना सहिष्णुता का परिचायक माना गया है।

इदं तु नाभिजानामि तव धीरस्य नित्यशः।

यत् पुत्रवशमागच्छेस्तत्त्वज्ञः सव्यसाचिन।।[22]

महाभारत के उद्योग पर्व 54.2.217

आप इतने ज्ञानी और बुद्धिमान् होते हुए भी मैं समझ नहीं रहा हूँ कि अर्जुन के बल पराक्रम को जानते हुए अपने पुत्र के अधीन क्यों होते जा रहे हैं। अनेकों बार महाराज धृतराष्ट्र को उनके पुत्र दुर्योधन की अन्यायपूर्ण कार्यशैली के लिए ध्यान आकृष्ट कराया कि महाराज अपने पुत्र पर नियंत्रण रखें। संजय ने महाराज धृतराष्ट्र को पाण्डवों के युद्ध की तैयारी के विषय में भी अवगत करवाते हैं।

यतः सत्यं यतो धर्मो यतो ह्रीरार्जव यतः।

ततो भवति गोविन्दो यतः कृष्णस्ततो जयः।। 23

महाभारत के उद्योग पर्व 68.9.250

संजय ने महाराज धृतराष्ट्र की ओर ध्यान दिलाते हैं कि जिस तरफ सत्य, धर्म, लज्जा तथा सरलता विद्यमान है। वहाँ भगवान श्रीकृष्ण का वास है। तातर्यतः जहाँ श्रीकृष्ण हैं वहीं विजय की सम्भावना है। इस प्रकार से भगवान श्रीकृष्ण की महिमा का वर्णन किया। मानवीय मूल्यों के लिए मनुष्य के व्यक्तित्व को नष्ट कर देता है। जिसकी भर्तस्तना सम्पूर्ण संसार लालची, लोभी, अहंकारी के रूप में करते हैं। मनुष्य में स्वयं के पुरुषार्थ और न्याय सम्मत प्राप्त धन से उन्नति करना चाहिए। इससे मानव व्यक्तित्व की पहचान सम्पूर्ण राष्ट्र में गरिमामय होती है।

श्रणु राजन् न ते विद्या मम विद्या न हीयते।

विद्याहीनस्तमोध्वस्तो नाभिजानाति केशवम्।। [24]

महाभारत के उद्योग पर्व 68.2.251

महाराज धृतराष्ट्र से संजय कहते हैं कि आपको तत्तवज्ञान के मूल्यों का ज्ञान प्राप्त नहीं है। किन्तु मेरी ज्ञानदृष्टि तत्त्वज्ञान के मूल्यों से अलग नहीं जाती है। धर्म पूर्ण रहती है कभी लुप्त नहीं होती है। इसके विपरीत जिस व्यक्ति की बुद्धि तत्त्वज्ञान से शून्य है उसमें अज्ञान रुपी अन्धकार विद्यमान है। वह श्रीकृष्ण के वास्तविक स्वरूप को कैसे पहचान सकता है। क्योंकि मानवीय मूल्यों की परख करने के लिए आन्तरिक ज्ञान चक्षुओं की आवश्यकता होती है। वही नैतिक मूल्यों के ज्ञान से परिचित होता है। उसी का व्यक्तित्व विकास होता है। आप धन धान्यसे पूरित होने के बावजूद भी स्वयं और पुत्र के व्यक्तित्व को सम्पूर्ण संसार निकृष्ठता और लालची के रूप में तुलना करता है। किन्तु पाण्डवों का धन–धान्य दोनों न होने की दशा में भी व्यक्तित्व के उत्कृष्ठ सम्पूर्ण संसार स्वीकार करता है।

माया न सेवे भद्रं ते न वृथा धर्ममाचरे।

शुद्धभावं गतो भक्त्य शास्त्राद् वेद्मि जनार्दनम्।।[25]

महाभारत के उद्योग पर्व 68.5.251

संजय ने भगवान श्रीकृष्ण की प्राप्ति के सम्बन्ध में महाराज धृतराष्ट्र को अगाज कराते हैं। हे महाराज आपको सुख प्राप्ति के साथ कल्याण हो। क्योंकि मैं कोई भी बात माया, छल–कपट के साथ आपके समक्ष प्रकट नहीं करता हूँ। व्यर्थ की बातों का सेवन नहीं करता हूँ। धर्म के अनुचरण का पालन करते हुए पाखण्ड पूर्ण धर्म पर विश्वास भी नहीं करता हूँ। इसी कारण भगवान श्रीकृष्ण की भक्ति से मेरी आन्तरिक आत्मा शुद्ध हो गई है। मैं नैतिक मूल्यों का वरणकरते हुए शास्त्रों की मर्यादा को जानकर भगवान श्रीकृष्ण के स्वरूप को यथावत पहचानता हूँ। इसी कारण सत्य और नैतिक मूल्यों का एक बहुत बडा उदाहरण संजय की भक्ति में मिलता है कि संजय जैसे कृष्ण की भक्ति का उसके व्यक्तित्व की अलग छाप दिखाई देती है। वह बार–बार दुर्योधन की अनैतिकता का ध्यान पिता धृतराष्ट्र को दिलाते थे। यह संजय के राष्ट्र और समाज के प्रति अपना स्वयं का व्यक्तित्व था। यहाँ तक तक युद्ध में महाराज धृतराष्ट्र के पुत्रों के मरण के सा‍ा विध्वंशक कुरूक्षेत्र काअशीम दुःख में डूबे धृतराष्ट्र को सान्तवना भी देते हैं। इस युद्ध की समीक्षा करते हुए कहते हैं कि महाराज धृतराष्ट्र के पुत्र मोह में फंसे होने के कारण इतने बडे विनाश युद्ध का कारण धृतराष्ट्र का पक्षपात से जुड़ा हुआ पुत्र मोह सबसे बड़ा कारण है।

अवाग् गान्धारि पुत्रस्ते गच्छत्येष सुदुर्मति।

ईर्षुर्दुरात्म मानी च श्रेयसां वचनातिगः।।[26]

महाभारत के उद्योग पर्व 68.8.252

इसी कारण महाराज धृतराष्ट्र ने धर्मपत्नी गान्धारी से कहते हैं कि तुम्हारा बुद्धिहीन, दुरात्मा, ईर्ष्यालु तथा कपटी, अभिमानी श्रेष्ठ पुरूष और पिता की आज्ञा की अवहेलना कर नरक की ओर प्रवृष्ट होता जा रहा है। पिता की आज्ञा न मानने वाले पुत्र का अन्त आज भी दुर्योधन की तरह ही होता है। क्योंकि आज इन धर्म ग्रन्थों को आधुनिक युगीन नर और नारी जानना नहीं चाहते। वो अपने मद में मदमस्त हैं। जिसके कारण आज सम्पूर्ण संसार में नैतिक मूल्यों का पतन हो रहा है। जिसके अनेकों उदाहरण सामने आते हैं। पिता–पुत्र का कलह, भाई–भाई का कलह, ननद बहू में कलह धन को लेकर पत्नी किसी के पुत्री और पिता का अपमान यह क्या नैतिकता का कौन सा रूप है। जहाँ पर निकृष्टता

कूट–कूट कर भरी हो। वहाँ मूल्यों की बात करना समीचीन कदापि नहीं होगा। इस प्रकार के बदतर लालची व्यक्तियों से उत्कृष्ट पशु हैं जो न तो अपनी कौम को जलाता है और न ही नुकसान पहुँचाता है। इन व्यक्तियों से ईमानदार चेतनावान पशु हैं। अगर चेतनाा न हो तो पशु भी उस घर से बाहर निकलने के बाद वहीं वापस न आये।

ऐश्वर्यकाम दुष्टात्मन् वृद्धानां शासनातिग।

ऐश्वर्यजीविते हित्वा पितरं मां च बालिश।।

वधर्यन् दुर्हृदां प्रीतिं मां च शोकेन वर्धयन्।

निहतो भीमसेनेन स्मर्तासिवचनं पितुः।। [27]

महाभारत उद्योग पर्व 68.9.10.252

दुर्योधन की माता गान्धारी पति की बातों को सुनकर बहुत ही दुःखी मन से कहती है कि दुष्टात्मा दुर्योधन ऐश्वर्य, लालच की इच्छा रखकर माता–पिता, बड़े–बूढ़ों की आज्ञा को अस्वीकार करता है। इस ऐश्वर्य पूर्ण जीवन व्यतीत करने के चक्कर में अपने माता–पिता को त्यागकर शत्रुओं की प्रसन्नता के साथ मेरा शोक क्यों बढ़ाता है। जब तुम भीम के हाथों मारा जायेगा। तब तुझे माता–पिता की बातें याद आयेंगी। वर्तमान समय की आधुनिकता ने धन के लालच में न जाने कौन–कौन से कार्य कर रहे हैं। जिससे व्यक्ति नीति मार्ग से दूर होता जा रहा है। माता–पिता की आज्ञा ही नीति धर्म परायण बनाती है। जिसने आदर और सम्मान किया है। वह नैतिक मूल्यों के साथ व्यक्तित्व का धनी रहा है। जिस प्रकार से श्रवण कुमार।

मातृदेवो भवः पितृदेवो भव।

आचार्यदेवो भवः अतिथिदेवा भवः। [28] **तैत्तिरीयोपनिषद् 11.12**

माता–पिता गुरू (शिक्षक) एवं घर में आये हुए मेहमान को ईश्वर समझकर उनका सत्कार करना चाहिए। यह गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करने वाले युवक का श्रेष्ठ धर्म है। इन तीनों के सत्कार से बढ़कर कोई धर्म नहीं है। अतिथि से बढ़कर कोई देवता नहीं है। माता–पिता के सम्बन्ध में श्रवण कुमार ने पिता की आज्ञा का पालन करने के लिए हमेशा तात्पर्य रहते थे। क्योंकि इस संसार में मार्ग को दिखाने वाले माता–पिता ही हैं। उनकी सेवा से प्रत्येक प्राणी महान बन सकता है। श्रवण कुमार में माता–पिता के प्रति पूर्ण निष्ठा की भावना थी। जिन्होंने आध्यात्मिक ज्ञान,वैराग्य, तप, ध्यान, शम, तितिक्षा, दम, अपरिग्रह,

शौच, स्वध्याय तप, संतोष और क्षमा आदि गुणों का पूर्ण ज्ञान श्रवण कुमार को था। इस कारण इन्हें माता–पिता के प्रति इतना प्रगाढ़ प्रेम था।

प्रथम नमन माता–पिता को, जन्म भू दूजा मान। तीसरा भगवत गुरू को, चौथा भूप सुजान।। 29

सबसे पहले माता–पिता को प्रणाम करता हूँ, द्वितीय प्रणाम अपनी जन्मभूमि माता और विधाता को तृतीय परम आचार्य गुरूवर वसिष्ठ को प्रणाम करता हूँ, अन्त में महाराज दशरथ को प्रणाम करता हूँ। इस सभासद् में आये सभी सदस्यों को श्रवण कुमार का प्रणाम है। ऐसे युग पुरूष जिसकी महिमा जन्म देने वाले माता–पिता के प्रति निष्ठा का उत्साह दिखाई देता है। वास्तविक मूल्यों और व्यक्तित्व के धनी श्रवण कुमार हैं, जिन्हें माता–पिता, गुरू की सेवा ही सबसे बड़ा नैतिक मूल्य है। आचार्य गुरू द्वारा दिया हुआ ज्ञान अमृत की तरह व्यक्ति को अमर कर देता है। जिसकी ज्ञानवाणी से वह किसी भी मंच या नैतिक निर्णय का सफल संचालन कर सकता है। गुरू की सेवा निष्ठा भाव से ही प्राप्त की जा सकती है। आज के आधुनिक विद्यार्थियों की हालत देखकर लगता है कि शिक्षा और शिक्षक का मूल्य ही खत्म हो गया है। जिस मूल्यों के दम पर व्यक्ति का ज्ञान शक्ति यहाँ तक पहुँची है। वहीं आज सबसे बड़ा घातक कदम उठाने में तुला हुआ है। क्या इससे वह सफल हो पायेगा? यह एक प्रश्न उत्पन्न होता है ? जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सत्य ज्ञान ही धर्म है। इसी धर्म के बल पर व्यक्ति राष्ट्र का निर्माण करता है। जिस प्रकार से एक शिष्य के प्रशासनिक सेवा में चयन होने पर गुरू का हृदय गदगद हो जाता है। अपने आप में स्वयं के और शिष्य के व्यक्तित्व को प्रसारित करने लगते हैं। प्राचीन काल में चाणक्य और चन्द्रगुप्त व्यक्तित्व के धनी थे, उसी प्रकार व्यक्तित्व का निखार गुरू और शिष्य परम्परा में आज भी विद्यमान है।

सन्दर्भ :–

1. मधु अस्थाना एवं किरण वाला वर्मा, व्यक्तित्व मनोविज्ञान,मोतीलाल बनारसीदास,दिल्ली, 2008 पृष्ठ.11
2. हरिकृष्ण रावत,समाजशास्त्र विश्वकोश,रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर, 2007, पृष्ठ 259
3. वाचस्पति गैरोला, कौटिलीय अर्थशास्त्रम्, चौखम्बा विद्याभवन,वाराणसी ,2013, पृष्ठ 10
4. कौटिलीय अर्थशास्त्रम्, पृष्ठ 12
5. कौटिलीय अर्थशास्त्रम्,पृष्ठ 12
6. डॉ.देवराज,भारतीय संस्कृति,उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान,लखनऊ, 2010 पृष्ठ 13

7. उपनिषद् गीताप्रेस, गोरखपुर, तेईसवें वर्ष काविशेषांक, 2064, पृष्ठ 50
8. डॉ.नन्दकिशोर देवराज, भारतीय दर्शन,उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, 2002, पृष्ठ 161
9. उपनिषद् गीताप्रेस, गोरखपुर, तेईसवें वर्ष काविशेषांक, 2064, पृष्ठ 71
10. स्वामी द्वारिकादासशास्त्री, महायानसूत्रालंकार (आर्यमैत्रेयविरचितः) बौद्धभारती, वाराणसी, 2006 पृष्ठ 25
11. डॉ.देवराज,भारतीय संस्कृति,उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान,लखनऊ, 2010 पृष्ठ 13
12. तथैव, पृष्ठ 13
13. डा.छाया राय,नैतिक चिन्तन के आयाम् प्रतिभा प्रकाशन,दिल्ली 2000 पृष्ठ 19
14. वाचस्पति गैरोला, कौटिलीय अर्थशास्त्रम्, चौखम्बा विद्याभवन,वाराणसी, 2013, पृष्ठ 462
15. डॉ.रंगनाथ प्रसाद,डॉ.आभा अखौरी एवं डॉ. नूतन सिन्हा, गाँधी दर्शन विश्व शाँति की ओर,बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, 1975 पृष्ठ 83
16. वाचस्पति गैरोला, कौटिलीय अर्थशास्त्रम्, चौखम्बा विद्याभवन,वाराणसी, 2013, पृष्ठ 453
17. रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय,केदारनाथ सिंह उदयावल,पटना, 1993 पृष्ठ 623
18. विदुर–नीति (महाभारत के उद्योग पर्व से) गीता प्रेस गोरखपुर, 2071 पृष्ठ 26
19. आचार्य जयदेव वेदालंकार, वैदिक दर्शन,भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली 1991,पृष्ठ 398
20. प्रो. उमाशंकर शर्मा,ऋषि सर्वदर्शन संग्रह, चौखम्बा विद्याभवन,वाराणसी ,2014, पृष्ठ 21
21. महाभारत के उद्योग पर्व से, गीता प्रेस गोरखपुर, पृष्ठ110, अ.,32 श्लोक 17,
22. महाभारत के उद्योग पर्व से, अ.54,श्लोक 2, पृष्ठ 217
23. महाभारत के उद्योग पर्व से, अ.68,श्लोक 9, पृष्ठ 250
24. महाभारत के उद्योग पर्व से, अ.69,श्लोक 2, पृष्ठ 251
25. महाभारत के उद्योग पर्व से, अ.69,श्लोक 5, पृष्ठ 251
26. महाभारत के उद्योग पर्व से, अ.68,श्लोक 8, पृष्ठ 252
27. महाभारत के उद्योग पर्व से, अ.69,श्लोक 9–10, पृष्ठ 252
28. तैत्तिरीयोपनिषद् 11.12
29. किशन सिंह राठौड़,आदर्श मातृ–पितृ भक्तःश्रवण कुमार, राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर, 2008,पृष्ठ 66

भारतीय तत्व चिंतन में योग

डा.रीना मिश्रा
योग व्याख्याता,योग विभाग
रा.दु.वि.वि.जबलपुर,(म.प्र.)
Email-mishra25reena@gmail.com

मनुष्य एक विवेकशील प्राणी है। उसका जिज्ञासु होना स्वाभाविक है। जीवन के विविध व्यापारों को देखकर प्रत्येक घटना के मूल में निहित किसी अपरिवर्तनीय सत्ता को जानने की जिज्ञासा ने उसे तत्त्व जिज्ञासु बनाया।

चिंतन के इस प्रयास में जो निष्कर्ष सामने आये उससे अनेक सिद्धांतों का उद्भव हुआ और अनेक परम्पराएँ विकसित हुई, दर्शनशास्त्र भी इसी का परिणाम हे।

"दर्शनशास्त्र का उद्देश्य विश्व को समझना है। सत्ता का स्वरूप क्या है ? प्रकृति क्या है? आत्मा क्या है? ईश्वर क्या है? दर्शन इन जिज्ञासाओं का समाधान करने का प्रयास करता है। दर्शन यह समझने की भी कोशिश करता है कि मानव–जीवन का प्रयोजन और मूल्य क्या है तथा इस जगत् से उसका सम्बन्ध क्या है। इस दृष्टि से दर्शन, जीवन और अनुभव की आलोचनाा है।"

भारत के दार्शनिक सम्प्रदायों को साधरणयाः 'आस्तिक और नास्तिक' इन दो वर्गों में रखा जाता है। आस्तिक दर्शन वेदों को प्रमाण मानते हैं। नास्तिक दर्शन वेदों का प्रमाण्य स्वीकार नहीं करते।

आस्तिक दर्शनों का 'आस्तिक' कहने का अभिप्राय यह नहीं है कि वे ईश्वर में विश्वास करते हैं और न नास्तिक दर्शनों को 'नास्तिक' कहने का अर्थ यह है कि वे ईश्वर को नहीं मानते। न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त– ये छः आस्तिक दर्शन हैं। चार्वाक, बौद्ध और जैन दर्शन नास्तिक है। ये वेदों का प्रमाण्य नहीं मानते। सांख्य और मीमांसा निरीश्वरवादी है। यह ईश्वर को नहीं मानते,फिर भी वेदों को प्रमाण मानने के कारण ये आस्तिक कहे जाते हैं।

भारतीय तत्त्व चिंतन में ईश्वरवादी दर्शन इस बात को सिद्ध करते हैं कि परम पुरूष इस जगत् के संचालक हैं और उसकी भागवत् सत्ता ही चराच जगत् की निर्मात्री, पोषक और संहारक शक्ति है।

योग इस परम पुरूष या भागवत् शक्तिके साथ तादात्मय का मार्ग प्रशस्त करता है। योग का अपना दर्शन है, उपयोगिता है, इसीलिये चैतन्य अनुभूति में योग विद्या को सबसे

अधिक महत्व प्रदान किया गया है। योग का आधार तर्क नहीं अनुभूति है। जिस चीज की अनुभूति नहीं होती उसे केवल किसी सिद्धांत के पोषण के लिए योग में स्वीकार नहीं किया जाता। बौद्ध मतावलम्बियों जैसे अनीश्वरवादी जिज्ञासुओं ने भी योग की प्रकियाओं को परम ज्ञान अथवा 'अर्हत' पद की प्राप्ति के लिए सर्वोच्च साधन के रूप में अपनाया है। योग यदि ज्ञान का व्यावहारिक पक्ष है तो उसका आरंभ तभी से मानना होगा जबसे ज्ञान के अनुभूति की भूख के लिए मानव की अन्तःप्रेरणा सबसे पहली बार छटपटाई होगी।

वस्तुतः योग प्रायः सभी दर्शनों के व्यवहारिक पक्ष की विद्या है जो दर्शनों के सैद्धान्तिक पक्षों के साथ फली–फूली।

महत्वपूर्ण शब्दः दर्शनशास्त्र,योग, अध्यात्म, मोक्ष, आत्मा।

भारतीय तत्त्व चिंतन में योग

परिचय :–भारतीय दर्शन तत्त्वतः आध्यात्मिक है। भारत में दर्शन और धर्म परस्पर आश्रित माने जाते हैं धर्म आध्यात्मिक सत्य को प्राप्त करने का व्यावहारिक उपाय है दर्शन सत्ता की मीमांसा करता है और उसके स्वरूप को विचार के द्वारा पकड़ता है जिससे मोक्ष की प्राप्ति होती है इस तरह स्पष्ट है कि भारतीय दर्शन एक बौद्धिक विलास नहीं है, बल्कि एक आध्यात्मिक खोज है और इन आध्यात्मिक खोज के रूप में दर्शनों में योग तत्त्व का मूल विद्यमान है।

यद्यपि सभी दर्शन अपनी भिन्न–भिन्न दार्शनिक मान्यताएँ प्रस्तुत करते हैं तथापि दर्शन ग्रन्थों में योग को स्वीकार किया गया है।

वेदान्त दर्शन में योगविद्या

''अपि च संराधे प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्।[1]

अर्थात् प्रत्यक्ष अनुमान एवं शब्द प्रमाण से यह ज्ञान होता है कि प्रपंचशून्य आत्मा का दर्शन योगीजन संराधन के समय करते हैं।

''आसीनः संभवात्।''[2]

अर्थात् इस सूत्र में किसी आसन पर बैठकर ही साधना करने से चित्त में एकाग्रता की सम्भावना व्यक्त की गई है।

''यत्रैकग्रता तत्राविशेषात्।''[3]

अर्थात् विशेषता न पाये जाने से जहाँ चित्त एकाग्र हो सके वही उपासना करनी चाहिए।

"पूर्वविकल्पः प्रकरणातत्स्यात् कियामानसवत्।"[4]

अर्थात् जिस प्रकार उपासना सम्बन्धी शारीरिक किया की भाँति मानसिक किया भी फल देने में समर्थ है, अतः अधिकारी भेद से जो फल शारीरिक किया करने वाले को मिलता है, वही मानसिंक किया करने वाले को भी मिल जाता है। उसी प्रकार अग्निहोत्ररूप कर्म भी बह्मविद्या की भाँति मुक्ति का हेतु हो सकता है। यहाँ पर स्पष्ट रूप से शारीरिक किया एवं मानसिक किया जो कि योगाभ्यास एवं धरणा, ध्यान की परिधि से समाहित है हमें स्पष्ट रूप से प्राप्त होते हैं इसके अतिरिक्त अन्य सूत्रों में भी योग विषयक चर्चा है वेदान्त ग्रन्थ विवेकचूडामणि में परमात्मा प्राप्ति के उपाय के रूप में योगसाधना का निरूपण किया गया है। यथा–

उद्धेरदामात्मानं मग्नं संसारवारिधौ।

योगारूढ़त्वमासाद्य सम्यग्दर्शननिष्ठया।[5]

अर्थात् संसार सागर में डूबी हुई अपनी आत्मा का आत्मदर्शन में मग्न रहता हुआ योगरुढ़ होकर स्वयं ही उद्धार करे। अन्य स्थल पर भी कहा गया है कि–

"श्रद्धाभक्तिध्यान्रूोगानमुमुक्षीर्मु वतेहैंतुन्वक्तिसाक्षाच्छ्तेर्गी।"[6]

अर्थात् श्रुति, श्रद्धा, भक्ति, ध्यानयोग को मुमुक्ष की मुक्ति का साधन बताया गया है। केवल इन्हीं में स्थित होने से व्यक्ति अवद्यिा कल्पित देहेन्द्रिय आदि से मुक्त हो जाता है। समाधि का निरूपण इस प्रकार किया गया है–

"समाधिनानेन समस्तवासना ग्रन्थेर्विनाशा खिलकर्मनाशाः।

अन्तर्वहिः सर्वतः एव सर्वदा स्वरूपविस्फूर्तिरयत्नतःस्यात्।।"[7]

अर्थात् इस समाधि से समस्त वासना रूपी ग्रन्थि का विनाश और अखिलकर्मो का नाश होकर, भीतर, बाहर सर्वदा बिना यत्न किये ही स्वरूप की विस्फूर्ति होने लगती है।

"निर्विकल्पक समाधिना स्फुटं ब्रह्मतत्त्वमवगम्यते ध्रुवम्।

नान्यथा चलतया मनोगते प्रत्ययान्तर विमिश्रतं भवेत्।।"[8]

अर्थात् निर्विकल्प समाधि से निश्चय ही ब्रह्मतत्त्व का स्फुटज्ञान हो जाता है। अन्यथा नहीं क्योंकि अन्य अवस्थाओं में मनोवृत्ति चंचल होने से वह ज्ञान अन्य प्रतीतियों से मिश्रित रहता है।

न्याय दर्शन में विभिन्न स्थलों पर योग का उल्लेख इस प्रकार हुआ है–

"समाधि विशेषाभ्यासात्।"[9]

अर्थात् अभ्यास से समाधि होती है।

"अरण्यगुहापुलिनादिषु योगाभ्यासोपदेशः।"[10]

अर्थात् इस सूत्र में अरण्य, गुहा तथा नदी के तीर आदि स्थानो पर योगाभ्यास करने का उपदेश दिया गया है।

"तदर्थ यमानियामाभ्यामात्मसंस्कारो योगाच्चध्यात्मविध्युपायैः।"[11]

अर्थात् उस मोक्ष के लिए यम और नियमों से तथा अध्यात्म विधि के उपायों द्वारा योग से आत्मा का संस्कार करना चाहिए। न्यायभाष्य में भी मोक्ष प्राप्ति के संदर्भ में कहा गया है कि– "आत्म–संयत, आत्म त्याग, आंतरिक और बाह्य आचार की शुद्धि तथा योग का अभ्यास आत्म–ज्ञानके साधन हैं। आत्म –ज्ञान मोक्ष का साक्षात् कारण नहीं है। आत्म–ज्ञान से पहले आत्मा को बंधन मे जकड़ने वाले धर्म और अधर्म का नाश होता है। धर्माधर्म के नाश से शरीर और ज्ञानेन्द्रियों का नाश हो जाता है और तब आत्मा को मोक्ष का लाभ होता है।"[12]

वैशेषिक दर्शन में योगविद्या

"आत्मन्यात्ममनसोः संयोगविशेषादात्मप्रत्यक्षम्।"[13]

अर्थात् योगियों को अपने आत्मा मे परमात्मा एवं मन (जीवात्मा) के संयोग से आत्मविषयक प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।

"तथा द्रव्यान्तरेषु प्रत्यक्ष्म्।"[14]

अर्थात् योगजर्धानुग्रहीत आत्म मनः संयोग से ही उन्हें सूक्ष्म से सूक्ष्मतर द्रव्यों का भी प्रत्यक्ष होता है।

"असमाहितान्तः करण उपसंह्वतसमाध्धयस्तेषां च।"[15]

अर्थात् युक्त योगी जो समाधि को समाप्त कर चुके हैं, उनके लिये अतीन्द्रिय द्रव्यों का बिना समाधि के ही प्रत्यक्ष होता है।

"आत्मसमवायादात्मगुणेषु।"[16]

अर्थात् आत्म समवेत होने से आत्मिक गुणों का प्रत्यक्ष होता है।

सांख्य दर्शन में योगविद्या

साख्य दर्शन के निम्न सूत्रों में योग–चर्चा काक विवेचन है–

"रागोपहितिर्ध्यानम्।"[17]

अर्थात् इस सूत्र में ध्यान का निर्देश दिया गया है।

"वृति निरोधात् तत्सिद्धि।"[18]

अर्थात् वृत्तियों के निरोध से ध्यान की सिद्धि होती है।

"धारणासनस्वकर्मणा तत्सिद्धिः।"[19]

अर्थात् धारणा, आसन तथा अन्य स्वकीय कर्मों एवं साधनों से वृत्ति निरोध (ध्यान) की सिद्धि होती है।

"निरोधच्छदिविधारणाभ्याम्।"[20]

अर्थात् इस सूत्र में वृत्ति निरोध में प्राणायाम की उपयोगिता बताई गई है।

"स्थिरसुखमासनम्।"[21]

अर्थात् इस सूत्र में स्थित सुखकारक आसन का विवेचन है।

इसी प्रकार साख्य दर्शन में निष्काम कर्मयोग को ज्ञान प्राप्ति का साधन माना गया है– "निष्काम कर्मो से ज्ञान प्राप्त होता है। ज्ञान से मोक्ष मिलता है। इस प्रकार किसी कामना से नहीं बल्कि कर्त्तव्य करना मोक्ष का साक्षात् कारण है।"[22]

इस प्रकार–"ज्ञान मोक्ष का सीधा उपाय है। पुरूष का प्रकृति और उसकी विकृतियों से विवेक ही ज्ञान है। इससे दुःखों का उच्छेद हो जाता है। इन्द्रिय–निग्रह, चित्त–शुद्धि, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारना, ध्यान और समाधि ज्ञान के सहायक हैं। समाधि में भोग–विषयों की इच्छा नष्ट हो जाती है। ध्यान के अविवेक के कारण पुरूष के अहंकार से जो तादात्म्य बुद्धि होती है उसा नाश हो जाता है। अभ्यास, वैराग्य और चित्तवृत्तियों के निरोध मे भी इस ध्यान से वह नष्ट हो जाता है। ध्यान की निष्पत्ति चित्तवृत्तियों के निरोध से होती हैं और चित्तवृत्तियों का निरोध योग–साधना तथा अपने वर्ण और व्यवसाय के विशेष कर्त्तव्यों के अनुष्ठान से होता है। वैराग्य और ध्यान के सतत् अभ्यास से भी चित्तवृत्तियों का निरोध हो जाता है। विवेक–ज्ञान से एक उच्चकोटि का वैराग्य पैदा होता है और इसमें हमारी चित्तवृत्तियों का निरोध होकर "मोक्ष" का लाभ होता है। तब प्रकृति अपनी लीलाओं को त्बन्द कर देती है और सृष्टि–कार्य बन्द हो जाता है। सांख्य योगाभ्यास को मोक्ष का गौण उपाय बताया गया है।"[23]

जैन दर्शन में योगविद्या

जैन दर्शन मुख्य रूपसे योगासाधना का ही विवेचन करता है। इसमें प्रचलित तप, ध्यानादि जीवात्मा की शुद्धि पूर्वक आत्म–प्रत्यक्ष कराने के महत्वपूर्ण साधन हैं। जैन सम्प्रदाय द्वारा प्रवर्तित योग–विद्या का अनुसरण का अनेक जैनाचार्यों ने निर्वाण की प्राप्ति की है। यह तथ्य प्रसिद्ध जैनाचार्यों 'कुन्दकुन्द' की कृति 'नियमसार' के इस कथन से प्रमाणित हो जाता है–

''उसहादिजिणवरिंदा एव काउण जोगवर भत्तिं।

विल्वुदिसुहमावराणा तम्हा धरू जोगवर भत्तिं।।''[24]

अर्थात् वृषभादि जिवरेनद्र इस प्रकार योग की उत्तम भक्ति करके निवृत्ति सुख को प्राप्त हुये हैं, इसलिए योग की उत्तम भक्ति तू भी कर।

जैन भक्ति के तेईसवे तीर्थकर एवं बास्तविक प्रचारक महावीर का जीवन–चरित्र योग का ज्वलन्त उदाहरण है। इन्होंने पूर्व जन्मों के संस्कार वंश युवावस्था में ही विरक्त होकर गृह त्याग करके तपस्या करते हुये 12 वर्ष से अधिक समय तक मौन धारण करके अत्यन्त कठोर तप का अनुसरण कर योगाभ्यास द्वारा आत्मज्ञान को प्राप्त कर निर्वाण लाभ किया। राग, द्वेष रूपी शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के कारण इन्हें ''महावीर'' एवं ''जिन'' की संज्ञा दी गई थी।

जैन सम्प्रदाय में यह स्वीकार किया गया है कि निर्मल मन द्वारा ही आत्म स्वरूप्प प्रकाशित हो सकता है–

''जैसे निर्मल आकाश में सूर्य स्फुरित होता है वैसे ही रागादि रहित निर्मल मन में निज परमात्म भासता है–

अन्यत्र भी कहा गया है कि–''जिसका मन रूपी जल विषय कषाय रूपी प्रचंड पवन से नहीं चलायमान होता है, उसी भव्य जीव की आत्मा निर्मल होती है एवं शीघ्र प्रत्यक्ष हो जाती है।''[25] अतः यहाँ पर भव्य जीवन अर्थात् एक योगी की उपमा दी गई है जिसा चित्त शांत हो जाने से आत्म साक्षात्कार की स्थिति बनती है। इस तथ्य को और स्पष्ट करते हुये कहा गया है कि–

''जेण णिरंजणि मणु धरिउ विसय कसायहिं जंतु।

मोक्खहं कारणु एत्तउ अण्णु ण तंतु ण मंतु।''[26]

अर्थात् जिन पुरूषों में विषय कषायों में जाता हुआ मन कर्म रूपी अजल से रहित भगवान में युक्त किया (वे ही मोक्ष के अनुयायी हैं) यही मोक्ष का कारण है दूसरा अन्य कोईभी तंत्र अथवा मंत्र नहीं है तात्पर्य यह है कि जो कोई भी संसारी जीव शुद्धात्म भावना से उल्टे विषय कषायों में जाते हुए मन को वीतराग–निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञान द्वारा पीछे हटकर निजशुद्धत्म द्रव्य में स्थापन करता है वही मोक्ष पाता है। दूसरा कोई मंत्र, तन्त्रादि में चतुर होने पर भी मोक्ष का अधिकारी नहीं होता है।

इसी प्रकार–

''सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग।''[27]

अर्थात् सम्यक दर्शन, सम्यक ज्ञान एवं सम्यक चरित्र में मोक्ष के मार्ग हैं। मोक्ष के इन तीन मार्गों को जैनदर्शन में आत्मा के ये तीन रत्न हैं, इसकी संज्ञा दी गई है। चूँकि इनका केन्द्र आत्मा ही है, इसलिए ये ''मोक्ष'' के कारण हैं। इसी प्रकार–

''कायवाड्ंकमनः कर्म योग।''[28]

''सः आसस्त्र।''[29]

अर्थात् काय, वचन, मन की किया योग है, वही आध्व है।

जैन मत के अनुसार रागादिक परिणामों से, जीव के मन, वचन, काय के शुभाशुभ किया रूप योगों द्वारा कर्मपुद्गलस्कन्धों के आने को आध्व कहते हैं। इनत तथ्यों को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है कि–

''सलिलावगाहि द्वारं जलाद्याास्त्रवणकारणत्वादास्त्रव इति निगद्यते, तथा योग योगप्रणाडिकया कर्मास्त्रवतीति स योगः आस्त्रव।''[30]

अर्थात् योग द्वारा आत्मा मे कर्मवर्गणा का आध्वण होता है जैसे–जिस प्रकार जलाशय में जल को प्रवेश कराने वाले नाले आदि का मुख्य आध्व कहलाता है, उसी प्रकार कर्माध्व का निमित्त होने से योग का आध्व कहा जाता है। जिस प्रकार अन्य योग ग्रंथों में यम, नियम का पालन प्रथमतः अनिवार्य माना गया है, उसी प्रकार जैन शास्त्र में भी पंच–महाव्रत का अनुष्ठान सर्वप्रथम आवश्यक रूप से अपेक्षित है।

ये पंचमहाव्रत इस प्रकार हैं–अहिंसाव्रत, सत्यव्रत, अस्तेयग्रत, ब्रह्मचर्यव्रत, अपरिग्रहव्रत। तत्तवार्थ सूत्र में इन व्रतों का उल्लेख इस प्रकार किया गया है।

''हिसानृतस्तेया ब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरितिर्व्रतम।।''[31]

अर्थात् हिंसा असत्य, चोरी, मैथुन, परिग्रह इनमें मन, वचन, कार्य से निवृत्ति होना ही पंचमहाव्रत है।

बौद्ध धर्म के संस्थापक भगवान बुद्ध एक महान योगी थे। उन्होंने स्वयं योग मार्ग का अन्वेषण कर समाधिस्थ होकर ज्ञान लाभ किया। पूर्ववर्ती अनेक जन्मों के अर्जित पुण्य से अभिसंस्कृत चित्त से युक्त बोधिसत्व बाल्यावस्था से ही समाधिस्थ हो जाते थे। जन्म, रोग, जरा, मृत्यु आदि के चिन्तन पूर्वक संसार की अनित्यता को मानकर तीव्र विरक्ति होने पर युवावस्था में ही उन्होंने प्रवज्या ग्रहण की। ''सत्य के अनुसंधान के मार्ग में भगवान बुद्ध ने आलारकलाम एवं उद्रक रामपुत्र से योग विद्या का उपदेश प्राप्त किया।''[32] उन्होंने सत्य ज्ञान के अन्वेषण कम में–''अरुवेला पहुँकर वहाँ के अरण्यगत रमणीक मार्ग को देखकर 6 वर्षो तक निरन्तर कठोर तप में डूबकर तपश्चर्या की। उस युग में मन की एकाग्रता की सिद्धि के लिए कठौर तपश्चर्या की निरर्थकता का आभास हुआ।''[33] अंत में निरंजन नदी के तट पर बोधि वृक्ष के नीचे अचल आसन लगाकर संबोधि प्राप्ति के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ होकर बैठ गये–''रात्रि की पुण्य बेला में गौतम बुद्ध ने समस्त आध्वों के क्षयपूर्वक समाधि लाभ द्वारा बुद्धत्व पद की प्राप्ति की। वह वृक्ष भी बोधिवृक्ष के नाम से विख्यात हुआ।''[34]

उनका यह ज्ञान योग मार्ग पर अग्रसर साधक की अंतिम परिणत है जिसे उन्होंने साधा और परमसत्ता का साक्षात्कार किया। बुद्ध ने साधना मार्ग का प्रवर्तन करते समय सर्वप्रथम चार आर्य सत्यों को स्वीकारा, जिनको भली–भाँति समझ लेने पर मनुष्य दुःखों से मुक्त होकर शान्ति अथवा निर्वाण प्राप्त कर सकता है।

अर्हत अथवा आर्य ही जिन्हें सत्य रूप से जानते हैं उन्हें आर्य सत्य कहा जाता है। बुद्ध के द्वारा साक्षात्कार किये गए चार आर्य सत्य निम्न हैं–

(अ) सर्वदुखम् (संसार दुःखमय है)

(ब) दुःख समुदय (दुःख का कारण है)

(स) दुःख निरोध (दुःख का नाश संभव है)

(द) दुःख निरोधमार्ग (दुःखों के नाश का मार्ग भी है)

निष्कर्ष –

योग भारतीय संस्कृति की सबसे प्राचीन तथा सबसे समीचीन सम्पत्ति है। यही एक ऐसी विद्या है जिसमें बाद–विवाद को कहीं स्थान नहीं, यही एक कला है जिसकी साधना से अनेक लोग अजर–अमर होकर देह रहते ही सिद्ध–पदवी को पा गये। यह सर्वसम्मत

अविसंवादि सिद्धान्त है कि योग ही सर्वोत्तम मोक्षोपाय है। भक्तापतिापित जीवों का सर्वसन्तापहर भगवान से मिलाने में योग अपनी– अपनी बहिन भक्ति का प्रधान सहायक है। जिसको अन्तर्दृष्टि बिना योग के सम्भव नहीं। अतः इसमें संदेह नहीं है कि भारतीय तत्तवज्ञान के कोष पाने के लिए योग की कुंजी पाना परमावश्यक है।

भारतवर्ष के आध्यात्मिक इतिहास में योग का सर्वदा विशिष्ट स्थान रहा है। दार्शनिक मत–मतान्तरों के परस्पर इतने भिन्न रहने पर भी, योगाभ्यास में किसी की विप्रतिपत्ति सुनने में नहीं आती। वेदबाह्य बौद्ध, जैन आदि भी योग पर उतनी ही आस्था रखते हैं जितनी श्रद्धा वेदसम्मत मतानुयायी आर्य जनता रखती थी।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. श्रीमद्भगवद्गीता 12/2
2. ब्रह्मसूत्र 3/2/24
3. वही 4/1/7
4. वही 4/1/11
5. वही 3/3/45
6. वही विवके चूड़ामणि 1
7. वही 48
8. वही 364
9. वही 365
10. न्यायसूत्र :महर्षि गौतम 4/2/38
11. वही 4/2/42
12. वही 4/2/46
13. (क) न्यायभाष्य 4/2/45
    (ख) भारतीय दर्शन पृ.क. 139
14. वैशेविक सूत्र : महर्षि कणाद 9/1/11
15. वही 9/1/13
16. वही 9/1/15
17. (क) न्यायभाष्य 4/2/45
18. (क) सांख्यसूत्र : महर्षि कपिल 3/30

(ख) भारतीय परम्परा के विविध आयाम पृ.क. 22

19. (क) वही पृ.क 3/31

(ख) वही पृ.क. 22

20. (क) वही पृ.क 3/32

(ख) वही पृ.क. 22

21. (क) वही पृ.क 3/33

(ख) वही पृ.क. 22

22. (क) वही पृ.क 3/34

(ख) वही पृ.क. 22

23. भारतीय दर्शन जदुनाथ सिन्हा पृ.क. 177

24. वही पृ.क. 178

25. (क) नियमसार कुन्दकुन्द पृ.क. 278

(ख) भारतीय परम्परा के विविध आयाम पृ.क. 140

26. (क) परमात्मा प्रकाश जुइन्दु देव अध्याय 1 दोहा 119

(ख) वही पृ.क 142

27. (क) वही अध्याय 2 दोहा 156–57

(ख) वही पृ.क 141

28. (क) वही अध्याय 21दोहा 123

(ख) वही पृ.क 142

29. (क) वही अध्याय 1 दोहा 123

(ख) वही पृ.क 154

30. (क) वही सूत्र 6/1

31. (क) वही 7/2

(ख) वही पृ.क 157

32. (क) सर्वदर्शन संग्रह,आर्हत् दर्शनम् पृ.क.156

(ख) वही पृ.क 156

33. (क) तत्वार्थ सूत्र उमास्वाति 7/1

(ख) वही पृ.क 169

34. (क) योगसार आचार्य योगीन्दु दोहा 30 पृ.क. 366

(ख) वही पृ.क 174

पुरूषार्थ-रामचरित मानस की दृष्टि में

डॉ0 बबिता सिंह

भारतीय दर्शन के अनुसार जीवन की सार्थकता जीवन को सुसंगत करके उसे भगवान्मुखी बनाने में है, जिससे इस क्षुद्र अल्पकालस्थायी ससीम भौतिक जीवनसे उठकर महान्, शाश्वत एवं असीम, अनन्त जीवन को प्राप्त किया जा सके। इसलिये भारतीय मनीषा ने पुरूषार्थ की अवधारणा की, जिसकी ऊर्जा से मानव मात्र के पशुत्व का निवारण हो सके और वह शाश्वत आनंद को प्राप्त कर सकें।

पुरूषार्थ शब्द की संरचना दो शब्दों–'पुरूष और अर्थ' से मिलकर हुयी है। पुरूष शब्द की व्युत्पत्ति पुः मूलधातु से हुयी है, जिसका तात्पर्य है–'पुरुष शरीरं'' च पुरिशिते इति–पुरुषः अर्थात् इस इस पुर अर्थात् शरीर में अवस्थित चैतन्याश जीव पुरुष से है। इसी प्रकार अर्थ की व्युत्पत्ति करते हुये कहा गया है कि–'अर्थयते प्राथवते सर्वेः इति अर्थ अर्थात् अभिलषित फल को प्रकट में विषयों को अर्थ कहते हैं। इस प्रकार दोनों शब्दों से मिलकर बने हुए पुरुषार्थ शब्द की व्याख्या–पुरूषार्थ अर्थः पुरूषार्थ अथवा 'पुरूष' अर्थयते इति पुरूषार्थ की गई है। इस प्रकार पुरूषार्थ का तात्पर्य है कि जो पुरुषों से चाहा जाय अर्थात् जिस फल की इच्छा करे वह पुरूषार्थ कहलाता है।

इस प्रकार पुरूषार्थ कोई जड़ तत्व नहीं है, वह सतत् जागरूकता है, और ऐसा आत्मबोध है जो अतः स्फुरित होता है। इसमें सत्य के साथ एकाकार होने की क्षमता है, आत्मतत्व की प्रमाणिकता है, सहजता है, सरलता है। इसलिए नीति मीमांसकों ने मनुष्य के भौतिक (विषय सुख) और आध्यत्मिक (ब्रह्मानंद) पक्षों को ध्यान में रखकर चार पुरूषार्थों–धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष की मीमांसा की। जिन्हें गोस्वामी तुलसीदास ने विनय पत्रिका में चित्रकूट की स्तुति करते समय इन्हें चार सुंदर फल बताया है–क्योंकि मनुष्य अपने जीवन में जो प्राप्त करना चाहता है, जो प्राप्त करता उसका अभीष्ट है, वही उसका पुरूषार्थ है।

पुरूषार्थों की श्रेणी में धर्म प्रथम पुरूषार्थ है। धर्म मनुष्य की प्रत्येक अवस्था तथा स्थिति के आचरण का प्रतिपादन करता है। धर्म संस्कृत के धृ धातु से बना है, जिसका अर्थ है–धारण करना। रामचरित मानस में भगवान राम धर्म की धुरी को धारण करने वाले है–**'धर्म धुरंधर रघुकुल नाथा'**[1] महाभारत में भी कहा गया है कि धर्म वह है, जिससे प्रजा बंधी हुयी है, जिससे सब प्रजा का धारक होता है, वही धर्म है, अर्थात्–

धारणाद् धर्ममित्याहुधर्म धर्मो धारयते प्रजाः।

यत् स्याद् धारण संयुक्तं स धर्म इति निश्चयः।।[2]

स्पष्ट है कि धर्म समाज में रहने वाले मानव समुदाय और उसके (समाज) मध्य वह आकर्षक शक्ति है, जिससे दोनों को सर्वथा अलग नहीं किया जा सकता। इसी को स्पष्ट करते हुए गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं कि–सभी प्रकार के कष्टों को सह लो, मिथ्या अपमान भी सह लो, किन्तु धर्म का परित्याग किसी भी स्थिति में नहीं करना चाहिए। अर्थात्–

सहि कुबोल साँसति सकल, अँगई अनट अपमान।

तुलसी धरम न परिहरिअ कहि करि गए सुजान।।[3]

इसी संदर्भ में तिलक जी भी कहते हैं कि–"**यदि धर्म छूट जाय, तो समझ लेना चाहिए कि समाज के सारे बन्धन टूट गये और यदि समाज के बन्धन टूट जाते हैं,तो आकर्षण–शक्ति के बिना आकाश के सूर्यादि ग्रहमालाओं की जो दशा होती है, समुद्र में मल्लाह के बिना नाव की जो दशा होती है, ठीक वही दशा समाज की भी होती है।**"[4] अतःधर्म की रक्षा करनी चाहिए। क्योंकि यह मनुष्य के लौकिक जीवन में समृद्धि एवं कल्याण लाता है, साथ ही परलोक की मंगलकामना की पूर्ति भी करता है। यह मानव मन में परोपकार एवं सदाचार की प्रवृत्ति को जागृत करता है, और अदृश्य ईश्वर की अराधना हेतु मानव मन को उत्साहित करता है। इसी को लक्ष्य करते हुए गोस्वामी जी की कहते हैं कि–

परहित सरस धर्म नहि भाई। परपीड़ा सम नहि अधिमाई।।[5]

अर्थात् दूसरों की भलाई (परोपकार) की भलाई के समान कोई धर्म नहीं है, और दूसरों को दुःख पहुँचाने के समान कोई नीचता (पाप) नहीं है। युग पुरूष विवेकानन्द भी तथ्य करते हैं कि–"**यदि तुम सचमुच पर–हित के लिए कटिबद्ध हो तो सारा ब्रह्माण्ड भले ही तुम्हारा विरोध करे, तुम्हारा बाल भी बाँका न होगा। यदि तुम निःस्वार्थ और ह्रदय के सच्चे हो, तो तुम्हारी अंतर में निहित परमात्मा की शक्ति के समक्ष ये सारी विघ्न–बाधाएं क्षार–क्षार हो जायेंगी।।**"[6] इसलिए दूसरों का हित ही करना चाहिए, अहित नहीं –

अनहित भय परहित किए पर अनहित हित हानि।

तुलसी चारु विचारु भल करिअ काज मुनि जानि।।[7]

इस प्रकार रामराज्य में परिहित में संलग्न समस्त नर–नारी अपने–अपने वर्ण औ आश्रय के अनुकूल धर्म रत होकर शोभित हो रहे है। कहीं भी राग (आसक्त), कोध, दो और दुःख नहीं है। सभी मनुष्य परस्पर प्रेम करते हैं, और वेदों में वर्णित नीति (मर्यादा) तत्पर रहकर अपने–अपने धर्म का पालन करते हैं। इसलिए उन्हें किसी प्रकार का दैहिव दैविक और भौतिक ताप नहीं व्यापते।

दैहिक, दैविक, भौतिक तापा। राम राज नहि कहुहि व्यापा।
सब नर करहि परस्पर प्रीति। चलहि स्वधर्म निरत श्रुति नीति।।[8]

इस प्रकार रामचरित मानस में धर्म अपने चारों चरणों–सत्य, शोच, दया, और दा से जगत में परिपूर्ण हो रहा है, स्वप्न में भी कहीं पाप नही है। पुरूष और स्त्री, पशु–पक्ष सभी रामभक्ति के परायण हैं और सभी परम गति (मोक्ष) के अधिकारी हैं। इसलिए गोस्वाम जी कहते हैं–

चरिउ चरन धर्म जग माही। पूरी रहा सपनेहुँ अध नाहीं।
राम भगति रत नर अरु नारी। सकल पर गति के अधिकारी।।[9]

रामचरित मानस में भरत भक्ति और भलाई की रक्षा बहुत अच्छे से करते हैं। वे स्वार्थ और परमार्थ दोनों ही मार्गो पर चलने वाले हैं। इसलिए समस्त संसार उनकी जय–जयकार करता है। कि वे साक्षात् मूर्तिमान धर्म का प्रतिनिधित्व करते हैं, और अपनी प्रतिज्ञानुसार रामचन्द्र के अयोध्या वापस लौटने तक नन्दिग्राम में फल, मूल खाते, इन्द्रिय दमन करते, जटा और वल्कल धारण किये, पृथ्वी पर शयन करते और ब्रह्मचर्य का यपालन करते हुए शत्रुध्न के साथ रहने लगते हैं।

फलमूलाशनो दान्तो जटावल्कलधारकः।
अधः शायी ब्रह्मचारी शत्रुध्नसहितस्तदा।।[10]

इस प्रकार धर्म और शील दोनों साथ–साथ रहते है, जो शत्रुध्न का लक्षण है। शत्रुध्न अर्थ पुरुषार्थ का प्रतिनिधित्व करते हैं। क्योंकि अर्थ सदैव धर्म का अनुगामी होता है। इसलिए रामचन्द्र के अयोध्या आगमन पर शत्रुध्न ने भरत की प्रेरणा से नाना प्रकार की रचनाओं में कुशल पुरवासियों ने अपने घरों को सजाना आरंभ कर दिया और अनेक उज्जवल मोतियों और रत्नों की वन्दनवारों से अयोध्यापुरी को सजा दिया। पुनः धर्म की प्रेरणा से ही उन्होंने महाकूर लकणासुर को मारकर मथुरापुरी बसायी और दान मान से लोगों को संतुष्ट करके मथुरा को एक समृद्धिशाली नगर बना दिया।

इस प्रकार अर्थ मानव जीवन में विशेष महत्व है। अर्थ मनुष्य की आर्थिक और भौतिक आवश्यकताओं इच्छाओं की पूर्ति का साधन है। इसी के द्वारा वह अपने कुटुम्ब का पोषण करता है, और उसे समृद्धि एवं उन्नति के शिखर पर ले जाता है। "इसलिए महाभारत में अर्थ का उच्चतम धर्म कहा गया है। प्रायः यह देखने में आता है कि अर्थ सम्पन्न व्यक्ति ही सुखी होता है, इसके विपरीत अर्थविहीन मनुष्य मृतक से सदृश होता है। इसलिए गोस्वामी जी ने रामचरित मानसमें शूर्पणनखा के माध्यम से कहा है कि–

राजनीति बिनु धन बिनु धर्मा। हरिहि समपे बिने सतकर्मा।।[11]

अर्थात् नीति के बिना शासन और धन के बिना यज्ञादि सत्कर्म नहीं हो सकते। स्पष्ट है कि धर्म युक्त अर्थ और अर्थयुक्त धर्म अमुत के समान लाभदायक है। इसलिए दोनों समादरणीय हैं, क्योंकि धर्म का सहायक अर्थ भी धर्म ही है, और आत्मा तथा धन का नाश करने वाला धर्म भी धर्म नहीं है–

धर्मो धर्मानुबनार्थो धर्मो नाऽहत्यार्थ पीडकः।।[12]

पुनः निर्धन मनुष्य की कामना पूर्ण नहीं हो सकती और धर्महीन मनुष्य को धन नहीं मिला सकता। अतः पहले धर्म को आचरण और फिर धर्म के अनुसार अर्थ का संग्रह करना चाहिए। तत्पश्चात् कामनाओं का सेवन करना चाहिए।

काम तीसरा पुरूषार्थ है, जिसका प्रतिनिधित्व लक्ष्मण जी करते हैं। क्योंकि वे राम (रूपी मोक्ष) के अनुगामी हैं। उनकी कामना मात्र श्रीराम जी में है, वे शुभ लक्षणों से सम्पन्न हैं, उनमें श्रद्धा, भक्ति, जिज्ञासा, वैराग्य एवं सेवा के लिए तत्परता है। उनसे किसी भी प्रकार का मद और दम्भ नहीं है। ऐसी कामना को लक्ष्य करते हुए रामचन्द्र जी कहते हैं कि–काम, मद और दम्भ आदि जिसमें न हो, मैं सदा
उसके वश में रहता हूँ।

काम आदि मद दम्भ न जाऊँ। तात निरन्तर बस में ताऊँ।।[13]

अर्थात् काम,मद और दम्भ आदि जिसमें नहो मैं सदा उसके वश में रहता हूँ। इसके विपरीत जो काम, कोध, मद,लोभ के परायण हैं, और दुःख गृह में आसक्त हैं, वे संसार रूपी कुएं में पड़े हुए मूढ़ मुझे नहीं जान सकते।

अर्थात्

काम, कोध, मद, लोभ रत गुहासक्त दुःख रुप।
तो किमि जानहि रघुपति हि मूढ़ परे भव कूप।।[14]

इसलिए तुलसीदास जीने काम, कोध, लोभ और मद को नरक का मार्ग बताया है–**काम, कोध, मद, लोभ–सब नाथ नरक के पंथ।**[15] क्योंकि जब हमें काम, कोध आदि दुगुणों का अभिमान हो जाता है तो हमारे अंदर कोई भी गुण प्रश्रय नहीं पा सकता और न ही हमें विश्राम मिल सकता है। इसलिए परमशान्ति और आनंद प्राप्त करने के लिए कामनाओं का क्षय होना अतिआवश्यक है। इसलिए ब्रह्मपुराण में कहा गया है कि धर्म, अर्थ व काम–ये तीन ही जीवन के फल हैं, इन तीनों की प्राप्ति अधर्म पूर्वक नहीं करना चाहिए।

धर्मश्चार्थपश्च कामश्चत्रितयं जीवतः फलम्।
एतत्त्रयमयवाप्तव्यम धर्मपरिवर्जितम्।।[15]

स्पष्ट है कि धर्म अर्थ और काम इन तीनों का सेवन एक साथ करना चाहिए क्योंकि इन तीनों का समुदाय ही श्रेय है। इसी को लक्ष्य करते हुए तुलसीदास जी कहते हैं कि–

भरत सत्रुसूदन लखन सहित सुमिरि रघुनाथ।
करतु काज सुभ–साज सब मिलिहिं सुमंगल साथ।[16]

स्पष्ट है कि धर्म, अर्थ और काम ही वस्तुतः मूल पुरूषार्थ है जिनके सम्यक पालन से चौथे पुरूषार्थ मोक्ष की प्राप्ति के लिए किसी प्रकार के श्रम की आवश्यकता नही होती। इसलिए श्रीमद्भागवत में मोक्ष को परम एवं अंतिम पुरूषार्थ कहा गया है। रामचरित मानस में श्री रामचन्द्र जी साक्षात् मोक्ष हैं। जो मानव द्वारा अगम है। इसलिए गोस्वामी जी कहते हैं कि इन चारों की चाह छोड़कर इन्हें देने वाले श्रीराम जी को बाहर के दो और भीतर के दो (मन–बुद्धि) इन चारों नेत्रों से देखो।

चारि चहत मानस अगम चनक चारि कोलाहु।
चरि परिहरे चारि को दानि–चारि चख चाहु।।[17]

क्योंकि वे ही वेदमार्ग का पालनकरने वाले धर्म की धुरी को धारण करने वाले प्रकृतिजन्य सत्व, रज और तम तीनों गुणों से अतीत और भोगों (ऐश्वर्य) में इन्द्र के समान हैं। ये ही मोक्ष हैं, परमात्मा हैं। किन्तु देहाभिमानके कारण पुरुष (जीव) में सम्पूर्ण दोष प्रकट हुआ करते हैं। ''मैं देह हूँ''– इस वृद्धि का नाम ही अविद्या है, जिसके कारण हमें

ब्रह्मज्ञान नहीं हो पाता है। किन्तु जैसे ही उसे यह ज्ञात होता है कि **'मैं देह नहीं, चेतन आत्मा हूँ''** इसी को विद्या कहते है।। जिसे प्राप्त करने के लिए वैराग्य की आवश्यकता होती है। क्योंकि वैराग्य के बिना मन में एकाग्रता नहीं आती और एकाग्रता के बिना ज्ञान नहीं होता। इस प्रकार वैराग्य कोई बाह्य वस्तु नही अपितु मन की एक अवस्था है। इसलिए गोस्वामी जी कहते हैं कि वैराग्य की ढाल लेकर, ज्ञान की खड़ग से लोभ, मोह, मद आदि असुर शत्रुओं को मारकर जो विजय प्राप्त होती है, वह भक्ति कहलाती है। जो ज्ञान और वैराग्य का फल है। इस प्रकार वे मोक्ष प्राप्ति के लिए भक्ति को प्रधानता देते हुए ज्ञान व वैराग्य को उसका अनुगामी मानते हैं, और कहते हैं कि यदि प्रभु चरणों में भक्ति हो गयी तो ज्ञान, वैराग्य और युक्ति स्वयं उसका अनुगमन करते हैं। इसलिए वे कहते हैं कि–

धर्म से विरति जोग ते ग्याना। ग्यान मोच्छपद वेद बखाना।
जाते वेगि द्रवउँ मैं भाई। सो मम भगति भरत सुखदायी।।
सो सुतंत्र अवलंब न आना । तेहि अधीन ग्यान विग्याना।
भगति तात अनुपम सुख भूला। मिलई जो संत होई अनुकूला।।[18]

अर्थात धर्म के आचरण से वैराग्य और योग से ज्ञान होता है तथा ज्ञान मोक्ष को देने वाला है। ऐसा वेदों में वर्णित है। किन्तु (भगवान) में जिससे अतिशीघ्र प्रसन्न होता हूँ वह मेरी भक्ति हैं,जो भक्तों को सुख देने वाली है, क्योंकि मेरे भक्ति से युक्त पुरूष को ही आत्मा का सम्यक् साक्षात्कार होता है। पुनः भक्ति स्वतंत्र है। इसे दूसरे साधनों का सहारा नहीं है। ज्ञान और विज्ञान तो इसके अधीन है। यह अनुपम और सुख की मूल है और तभी मिलती है, जब संत अनुकूल होते हैं। क्योंकि संतो का संग मोक्ष का मार्ग है। इसी को उदघाटित करते हुए गोस्वामी जी हनुमान व विभीषण के मिलन का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं, कि

तब हनुमंत कही सब, रामकथा निज नाम।
सुनत जुगल तनपुल मन, मगन सुमिरि गुन ग्राम।।
एहि विधि–कहत रामगुन ग्रामा। पावा अनिर्वाच्य विश्रामा।।[19]

स्पष्ट है कि भगवान निरहांरी है और उनके गुणों का श्रवण–कीर्तन करने से भक्तों का ह्रदय भी तद्धत गुणों से परिपूर्ण हो जाता है। ह्रदय में उन गुणों के प्रकट होते ही आनंद का संचार होने लगता है। यह आनंद ही प्रस्तुत परब्रह्म परमात्मा है। जिससे प्राप्त करना प्रत्येक पुरूष (जीव) का लक्ष्य है। इसलिए जो भक्त मन,वचन और कर्म से अर्थात्

अर्न्तबाह्य सब प्रकार से परमात्मा में ही समर्पित है और अपनी व्यक्तिगत कामना न रखकर परमात्मा के लिए ही जीवन जीता है, उसके हृदय में नारायण सदैव विश्राम करते हैं। रामचरित मानस में भरत की भक्ति इसी प्रकार की है, जिसका उल्लेख करते हुए गोस्वामी जी कहते हैं, कि

संपति चकई भरत चक मुनि आयस खेलवार।

तेहि निसि आश्रम पिंजरों राखे भा भिनुसार।।[20]

पुनः भक्ति की महिमा का बखान करते हुए स्वयं भगवान रामजी कहते हैं के–एक भक्तिहीन ब्रह्म भी मुझे सब जीवो के समान ही प्रिय है। इसलिए उन्होंने अधम कुल में जन्मी शबरी की ईश्वर भक्ति व प्रेम से प्रसन्न होकर, उसके द्वारा दिये गये चार फलों–फल, फूल, अंकुर और मूल द्वारा उन्होंने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को जलाकर उसे प्रेम लक्षणा भक्ति रूप सेवा का फल प्रदान किया और नवधाभक्ति का उपदेश दिया। जो मानव मात्र के लिए जीवन में उतारने योग्य है, नवधा भक्ति के सूत्र इस प्रकार हैं– 1.संतो के दर्शन और उनका सानिध्य प्राप्त करना। 2. श्री भगवान की लीला–कथाओं में रुचि लेना। 3. मान–अभिमान त्याग कर गुरूदेव की सेवा करना। 4.छल–कपट त्याग कर निर्मल मन से श्री भगवान की–कथाओं का गुणगान करना। 5. श्री भगवान में दृढ़ विश्वास रखते हुए उनके मंत्र (नाम) का जप करना। 6. इन्द्रिय निग्रह कराना, शीलवान होना, नाना प्रकार के (भटकाव वाले) साधनों से वैराग्य होना, और सज्जनों के अचरकों का अनुशरण करना। 7. समभाव में स्थित होने, सारे संसार को ईश्वर मय देखना लेकिन यदि कोई संत–महात्मा सामने आ जाय तो उसे श्री भगवान से भी बढ़कर मानना। 8. यथा लाभ से संतोष करना और स्वप्न में भी दूसरों के दोषों को न देखना। 9. सबके साथ सरल और छल रहित व्यवहार करना, श्री भगवान पर ही भरोसा रखना तथा हृदय को भय और दीनता के भाव से रहित रखना।

पुनश्चः भक्ति का सारतत्व प्रेम है और वह स्वतंत्र है। भक्ति परमप्रम स्वरूपा है। इसके लिए उत्कृष्ठ शरीर और प्रखर बुद्धि की अपेक्षा नहीं होती। यह परमात्मा को पाने का सुगम मार्ग है। इसलिए गजेन्द्र, जटायु, आदि पशुपक्षियों, रीछ, वानर आदि वनचरों ने, निषाद, व्याध आदि अधम जाति के पुरूषों ने और गणिता, शबरी आदि स्त्रियों ने भी भक्ति मार्ग से परमात्मा को प्राप्त कर अपना जीवन धन्य कर लिया था। इस प्रकार भक्ति की सरलता को दिखाते हुये गोस्वामी जी कहते हैं कि–

कहहु भगति पथ कवन प्रयासा। जोग न मख जप तक उपवासा।

सरल सुभाव न मन कुटिलाई। जथा लाभ संतोष सदाई।।[21]

अर्थात् विषयों की कामना त्याग गर प्राख्धानुसार जो कुछ प्राप्त हुआ है,उसी में रहना सीख लें तो भक्ति करते देर न लगेगी। क्योंकि संतोष के बिना कोई शान्ति नहीं पा सकता–'**कोउ विश्राम कि पाव तात सहज संतोष बिनु**'।।[22] और संतोष के बिना कामना का नाश नहीं **होता, और कामनाओं के रहते स्वप्न में भी सुख नहीं मिलसकता। अर्थात्–''बिना संतोष न काम नसाही। काम अछत सुख सपनेहुँ नाहीं।।**[23] और कामनाएं राम के भजन बिना नहीं मिट सकती। जिस प्रकार (तत्व ज्ञान) विज्ञान के बिना समभाव नहीं आ सकता, श्रद्धा के बिना धर्म का आचरण नहीं हो सकता,तप के बिना तेज नहीं फैलत, पण्डिजनों की सेवा के बिना सदाचार प्राप्त नहीं हो सकता, निज सुख (आनंद) के बिना मन स्थिर नहीं हो सकता, विश्वास के बिना कोई सिद्धि नहीं हो सकती, उसी प्रकार श्री हरि के भजन बिना जन्म–मृत्यु के भय का नाश नहीं होता है। इसलिए तुलसीदास जी भगवान में विश्वास करने की बात पर जोर देते हुए कहते हैं–

बिनु विस्वास भगति नहीं तेहि, बिनु द्रवहू न रामु।

रामकृपा बिनु सपनेहुँ जीव न लह विश्राम।।[24]

इसलिए सम्पूर्ण कृतकों और संदेहों को छोड़कर करुणा की खान, सुंदर और सुख देने वाले श्री रघुवीर का भजन करना चाहिए, क्योंकि उनके भजन बिना जो कोई मोक्ष (निर्वाण) चाहता है, वह ज्ञानवान होते हुए भी बिना सींग पूंछ का पशु होता है। इसी का उदघाटित करते हुए गोस्वामी जी कहते हैं कि–

रामचन्द्र के भजन बिनु जा चह पद निर्वान।

ग्यानवंत अपि सो नर पसु बिनु पूँछ विषान।।[25]

अन्ततःउपरोक्त सम्पूर्ण विवेचनोपरांत स्पष्ट होता है कि किसी भी कार्य की सिद्धि मे–पुरूषार्थ, पूर्वकर्म (प्रारब्ध) और प्रधानतया परमात्मा की कृपा ही सहायक है। इसलिए रामचरित मानस में कहा गया है कि–

पुरुषारथ पूरब करम परमेशवर परधान।
तुलसी पैरत सरित ज्यों ससबहि काज अनुमान।।[26]

अर्थात् उक्त तीनों के अवलम्बन से जैसे तैरकर नदी पार कर लिया जाता हैं, उसी प्रकार सभी कामो में अनुमान कर लेना चाहिए। और यह कृपा तभी साध्य होती है, जब हमें अपने पुरुषार्थ में कृपा दिखाई दें। अर्थात् '' **राम कृपा नासहिं सब रोगा**''। **27**

अन्ततः हम कह सकते हैं कि पुरुषार्थ की यात्रा वास्तव में शान्ति को उपलब्ध होने वाली यात्रा है, जगत में अपने कर्त्तव्य कार्य करना और जगत में भागना ही धर्म, यही वह मार्ग है, जो जीवन में रस, आनन्द के लोक तक ले जाती है, और इसी से मोक्ष की ओर बढ़ने का मार्ग प्रशस्त होता है।

संदर्भ ग्रंथ

1. रामचरित मानस,टीकाकार हनुमान पोद्दार, 7/7 ख–3 गीता प्रेस गोरखपुर 31 वां संस्करण
2. महाभारत, कर्णपर्व, 69, 58
3. तलसीकृत दोहावली अनुवादक हनुमान पोद्दार, दोहा, 466 ख , पृ0 129 गीता प्रेस गोरखपुर
4. गीतारहस्य, अनुवादक माधवरावजी सप्रे, पृ0 43, केसरी मुद्रणालय 586, नारायणसेट,पूना 26 संस्करण
5. रा0च0मा टीकाकार हनुमान पोद्दार, 7/40 गीता प्रेस गोरखपुर 31 वां संस्करण
6. वि0सा0दशमखण्ड पृ0 13
7. दोहावली : टीकाकार हनुमान पोद्दार, 467 गीता प्रेस गोरखपुर 58 वां संस्करण
8. रामचरित मानस,टीकाकार हनुमान पोद्दार, 7/20–1 गीता प्रेस गोरखपुर 31 वां संस्करण
9. रामचरित मानस,टीकाकार हनुमान पोद्दार, 7/20–2 गीता प्रेस गोरखपुर 31 वां संस्करण
10. अध्यात्मक रमायान अनुवादक मुनिलाल अयोध्याकाण्ड नवम् सर्ग श्लोक 73, गीता प्रेस गोरखपुर 23 वां संस्करण
11. रामचरित मानस,टीकाकार हनुमान पोद्दार, 3/20 ख–4 गीता प्रेस गोरखपुर 31 वां संस्करण
12. ब्रह्मपुराण तारिणीश झा 221,16 हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, द्वितीय संस्करण
13. रामचरित मानस,टीकाकार हनुमान पोद्दार, 3/16 गीता प्रेस गोरखपुर 31 वां संस्करण
14. दोहावाली : टीकाकार हनुमान पोद्दार, 270 गीता प्रेस गोरखपुर 58 वां संस्करण

15. रा0च0मा0, टीकाकार हनुमान पोद्दार, सुन्दरकाण्ड 38 गीता प्रेस गोरखपुर 58 वां संस्करण

16. ब्रह्मपुराण तारिणीश झा 221,11 हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, द्वितीय संस्करण

17. दोहावाली : अनुवादक हनुमान पोद्दार, दोहा–462 गीता प्रेस गोरखपुर 58 वां संस्करण

18. दोहावाली :अनुवादक हनुमान पोद्दार, 151 गीता प्रेस गोरखपुर 58 वां संस्करण

19. रा0च0मा0, टीकाकार हनुमान पोद्दार, 3/15,1–2 गीता प्रेस गोरखपुर 58 वां संस्करण

20. रा0च0मा0, अपुवादक हनुमान पोद्दार, सुन्दरकाण्ड 7/1 गीता प्रेस गोरखपुर 31 वां संस्करण

21. दोहावाली :अनुवादक हनुमान पोद्दार, 205 गीता प्रेस गोरखपुर 58 वां संस्करण

22. रामगीता, स्वामी हरिहर दास त्यागी पृ0113 रणधीर प्रकाश हरीद्वार प्रथम संस्करण (2002)

23. दोहावाली :अनुवादक हनुमान पोद्दार, 275 गीता प्रेस गोरखपुर 58 वां संस्करण

24. रामचरित मानस, अनुवादक हनुमान पोद्दार, 7/89 ख गीता प्रेस गोरखपुर 31 वां संस्करण

25. रामचरित मानस, अनुवादक हनुमान पोद्दार, 7/90 क गीता प्रेस गोरखपुर 31 वां संस्करण

26.दोहावली, 138 रा0च0मा07/78क

27. दोहावाली :अनुवादक हनुमान पोद्दार, 468 गीता प्रेस गोरखपुर 58 वां संस्करण

28. रामचरित मानस, अनुवादक हनुमान पोद्दार, 7/12 ख–3 क गीता प्रेस गोरखपुर 31 वां संस्करण

भारतीय धर्मशास्त्रों में पुरुषार्थ की उपादेयता

सरला साहू
शोध छात्रा (I.C.P.R.)J.R.F.
दर्शन शास्त्र विभाग,
रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय,
जबलपुर (म.प्र.)

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, मानव जीवन के मुख्य पुरुषार्थ माने गये हैं। इन्हीं पुरुषार्थ के आधार पर चलने वाला जीवन ही सम्पूर्ण जीवन अर्थात् जीवन की समग्रता कहा जा सकता है। भारतीय धर्मशास्त्रों में पुरुषार्थ की विवेचना वेद, पुराण, स्मृतियां, धर्म सूत्र, उपनिषद् प्रायः समस्त धार्मिक ग्रन्थों मे ली गयी है। चारों पुरुषार्थ अन्योऽन्याश्रित है। पुरुषार्थ का मानव जीवन में इस तरह पालन करना चाहिए जिससे इसका सामंजस्य बना रहे। पुरुषार्थ चतुष्टय मे धर्म का सम्यक आचरण के द्वारा होता है, अर्थ का हित के द्वारा, काम का वासना, भावना और कलात्मक जीवन की सन्तुष्टि के द्वारा होती है। अतः मोक्ष का आत्मा की मुक्ति का अर्थ ग्रहण करना से होती हैं। इस प्रकार पुरुषार्थ श्रंखलाबद्ध रूप से एक–दूसरे से बंधे हुये हैं। जिस तरह जंजीर के कुन्दों का महत्व है। लेकिन यदि हर कुण्दे को अलग–अलग कर दिया जाये तो जंजीर का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। उसी प्रकार धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों कुन्दों से पुरुषार्थ की जंजीत निर्मित है। इन चारों को आपस में सामंजस्य होना ही जीवन के अस्तित्व को बनाये रखना है।

धर्म–धर्म का मूल स्त्रोत वेद माना गया है। **वेदोऽखिलों धर्ममूलम**[1] प्रत्येक धर्मशास्त्रमें धर्म की सम्यक विवेचना की गयी है। धर्म शब्द उन संस्कृत शब्दों में है जिनका प्रयोग कई अर्थों में होता आया हे। धर्मशब्द की व्युत्पत्ति **"धृ"** धातु से **"मनु"** प्रत्यय जुड़ने पर निष्पन्न होती है।[2] धर्म का अर्थ धारण करना है जो धारण करना है वही धर्म है।

धारणाधृतिरित्यर्थाद्धातोः धर्मशब्दः प्रकीर्तितः[3]

धर्मशास्त्रों में धर्म की रक्षा पर बल दिया गया है। यद्यपि धर्म हमारी रक्षा करता है। तथापि यह भी कहा गया है कि उसी की रक्षा धर्म के द्वारा होती है जो धर्म की रक्षा स्वयं करता है। **धर्म एवं हतोहन्ति। धर्मो रक्षतिं रक्षतः।**[4]

श्रीमद् भगवद्गीता में वर्ण आश्रम धर्म स्वभाव व परिस्थितियों के अनुसार किये गये कर्त्तव्य कर्म को 'धर्म' की संज्ञा दी गई है। भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को गीता का उपदेश देते हुये श्लोक में कहा है–

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकःशरणं ब्रज।

अहम् त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामिं मा शुचः।।

अर्थात् कर्त्तव्य कर्म का पालन करने का नाम ही धर्म है। समय व परिस्थिति के अनुसार शब्द के अर्थ में कभी–कभी परिवर्तन हो जाता है। अथर्ववेद में धर्म शब्द का प्रयोग धार्मिक किया संस्कार करने से अर्जित गुण के अर्थ में हुआ है। ऐतरेय ब्राह्मण में धर्म शब्द सकल धार्मिक अनुशासनों के अनुसार चलना ही धर्म है। मनु ने **आचारः परमोधर्मः**[5] स्वीकार किया है। अपने–अपने वर्णो के अनुसार कर्त्तव्य धर्म को कर उसी के लिये बलिदान हो जाना भी धर्म कहा गया है। **स्वधर्ये निर्धन श्रेय**[6] कहकर भी श्रीकृष्ण ने इस बात की सत्यता प्रमाणित की है कि धर्म गूढ रहस्य को लिये हुये एक ऐसा शब्द तत्व है जिसकी गहराई को मापना सम्भव नही है। वास्तविकता तो यह है कि जिस व्यक्ति ने जिस बात को अथवा जिस तथ्य को उचित श्रेयस्कर व कल्याणप्रद समझा, उसने उसे ही धर्म की संज्ञा दे दी। धर्म वह ज्योति स्तम्भ है जिसके आलोक में चलने वाले कल्याणप्रद मार्ग पर सरलता से गमन कर पाते हैं।

धर्म अभ्युदय का दूसरा नाम है। प्रायः हर व्यक्ति की आकांक्षा रहती है कि वह उन्नति के चरम पर आरूढ़ हो, इसी कारण वह धर्म के मार्ग का अनुसरण करता है। क्योंकि वास्तविक उन्नति धर्म मार्ग का अनुसरण ही है। धर्म पालन में कठिनाई अवश्य अनुभव होती है। लेकिन कल्याण कारक मंगलमय उन्नति का मार्ग अवश्य खुल जाता है। श्रीमद्भगवाद्गीता के अनुसार–

'यत्तदये विषमिव परिणामे अमृर्तोपयकम्'[7]

अर्थात् आरंभ मे भले ही विषपान करना पड़े, लेकिन परिणाम जरूर अमृतमय होता है विषपान करके अमृत उगलना एक धर्म परायण व्यक्ति की ही स्थिति हो सकती है। व्यक्ति का यह स्वभाव होता है कि वह अपनी प्राप्त परिस्थिति की उस आकांक्षित उन्नति का जो मुख्य साधन है, वही धर्म है। इसके विपरीत फल वाला जो अवनति का कारण है वही धर्म है।

धर्म शब्द रूपी संसार में यदि गोता लगाया जाये तो इसके तल पर बिखरे नाना प्रकार क हीरे प्राप्त किये जा सकते हैं। वास्तव में एक समुद्र के समान धर्म भी रत्नाकर ही है। धर्म के तीन अर्थ हैं। प्रथमः धारण करने वाला द्वितीयः पालन पोषण करने वाला तृतीयः अवलम्बन देने वाला। धर्म सम्पूर्ण जगत को धारण करता है, सबका पालन पोषण करता है

और सबको अवलम्बन देता है। इसीलिये सम्पूर्ण जगत एकमात्र धर्म के ही बल पर सुस्थिर है। मनुष्य के जीवन का सदैव सुखमय बनाकर उसे कृत्कृत्य कर देने वाला मुय पुरूषार्थ धर्म है लेकिन धर्म के सम्बन्ध में एक विशेष नियम भी है कि सामान्य धर्म के सम्यक रूप से पालन करने पर ही विशेष धर्म का निर्वाह हो सकता है। कितने ही लोग बडी श्रद्धा और विधि से गंगा स्नान, व्रत, और भगवद् भजन आदि तो करते हैं। परन्तु मनुष्यों से ईर्ष्या, द्वेष, मतभेद आदि रखते हैं। ऐसे लोगों को उन सब कर्मों से कोई भी सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती क्योंकि सामान्य का ठीक तरह से पालन किये बिना कोई भी विशेष धर्म फल नही। सबके साथ प्रेमभाव, समता, निर्विर आदि ये सामानय धर्म है। जो व्यक्ति दूसरों के साथ मानवचित व्यवहार नहीं कर सकता, अर्थात् जो सामान्य धर्मों का पालन नहीं करता वह मनुष्य ही नहीं है। श्रीमदभागवद् में स्पष्ट कहा है कि जो लोग मनुष्य से द्वेष रखते हैं, उन्हें भगवद् उपासना से भी कोई सिद्धि नही मिल सकती।

धर्म जीवन में जीने की कला सिखाता है। जीवन में धर्म को धारण ही किया जाना चाहिये, जिससे व्यक्ति की बहुमुखी प्रतिभा का विकास हो सके। जहाँ धर्म होता है वहाँ परमात्मा स्वयं निवास करते हैं, जहाँ परमात्मा स्वयं हो, वहाँ हर प्रकार से विजय होना निश्चित है।

कृषिं गौरक्ष्यवणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम।[8]

आध्यात्मिक बल के साथ–साथ भौतिक बल का होना भी बड़ा आवश्यक है। भौतिक बल आध्यात्मिक बल को बढाने में सहयोगी है। 'भूखे भजन न होय गोपाला' के अनुसार धर्म का मनुष्य पर नियंत्रण तब तक ही रह सकता है जब तक कि उसकी आजीविका का निर्वाह सही तथा शान्तिपूर्वक चल रहा हो यदि मनुष्य भूखा या नंगा विचरण कर रहा हो तो वह धर्म का पालन किसी भी मूल्य पर नहीं कर सकता है। धर्म भी अर्थ की अपेक्षा करता है।

अर्थ का वास्तविक फल भी धर्म ही है। काम उसका गौण फल है। अर्थ का जीवन निर्वाह करने वाली समस्त वस्तुओं से गहरा सम्बन्ध है। अतः भूमि, सोना, चांदी, पशु, धन–धान्य, वर्तन, लकड़ी, लोहे का सामान एवं मित्र का अर्जन अर्जित करना यह सब अर्थ है।[9] अर्थ की प्राप्ति एवं अभिवृद्धि का सबसे मुख्य उपाय है–बुद्धि अर्थात् सदबुद्धि। श्रीमदभागवद् के अनुसार–अर्थ की उत्पत्ति सदबुद्धि से होती है– अर्थ बुद्धिरसूयत।

बुद्धि के बिना अन्य उपायों से अर्थ की अभिवृद्धि नहीं हो सकती। यद्यपि बिना उद्योग व पुरूषार्थ के धननोपार्जन नहीं हो सकता है, लेकिन साथ–साथ बुद्धि का भी सहयोग होना परम आवश्यक है। शुक्रनीति में कहा गया है कि– बुद्धिमान का थोड़ा सा भी अर्थ दिन पर दिन बढ़ता ही चला जाता है। शूरता, नीति, बल और धन, इन चारों उपायों से पशु–पक्षी भी वश में हो जाते हैं।[10]

भारतीय धर्मशास्त्रों में पुराणों में अर्थापार्जन की शिक्षा दी गयी है। न्याय पूर्वक धन कमाने से व्यक्ति को समाज में प्रतिष्ठा मिलती हे और उस धन की भी प्रशंसा होती है। शास्त्रों में तो यहाँ तक कहा गया कि न्याय पूर्वक धन कमाने वाले को मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है। कूर्म पुराण में भगवान कर्म स्वयं ऋषियों से कहते हैं कि न्याय से धन प्राप्त करने वाला शान्त विद्यापरायण तथा अपने धर्म का पालन करने वाला व्यक्ति ब्रह्मभाव की प्राप्ति में समर्थ होता है।[11]

शुद्ध और अशुद्ध दो प्रकार के अर्थ माने गये हैं। इनमें से जो धर्म के अनुकूल उपार्जन किया जाता है उसे शुद्ध अर्थ माना गया है और जो अधार्मिक तरीकों–चोरी आदि से कमाया जाये वह अशुद्ध अर्थ कहा जाता है। जिनके अर्थागम का मार्ग शुद्ध है और व्यय भी शुद्ध है अर्थात् जो सतकर्म से अर्थ का अर्जन करता है और सत्कार्य में उसका व्यय करता है, वही व्यक्ति अर्थ का योग्यतम पात्र है। इसके विपरीत जिसके अर्थागम का मार्ग पवित्र नहीं है जिसका अर्थ असत्कार्य में व्यय होता है। वह व्यक्ति अर्थ का अपात्र है। अर्थ के विषय में एक बड़ी बात यह है कि अर्थ से मनुष्य की कभी संतुष्टि नहीं होती जिन मनुष्यों मे अर्थ को जमा करने की वृत्ति आ जाती है। वह तो अपना धन परिवार के उचित भरण–पोषण में न लगाकर जमा ही करते रहते हैं। जबकि मनुष्य का अन्त निश्चित है। कठोपनिषद् में यमराज द्वारा नचिकेता को अनेकों प्रलोभन दिये जाने पर भी नचिकेता ने कहा–**न वितेन तर्पणीयों मनुष्यों**।[12] कि धनसे मनुष्य को तृप्त नहीं किया जा सकता। यही अर्थ ''जब आते सन्तोष तो सब धन धूरि समान'' हो जाता है।

अर्थ के बिना तो मनुष्य आर्थिक, धार्मिक एवं सामाजिक कार्य होना ही दुष्कर है। सभी कार्य अर्थ पर निर्भर हैं। आज के भौतिकवादी युग में तो अर्थ की धुरी पर ही सम्पूर्ण जीवन चक घूम रहा है। देश–विदेशों से आयात–निर्यात का मुख्य आधार अर्थ ही है। धर्म का बन्धन या सीमा तो अलग–अलग एवं भिन्न है किन्तु आर्थिक वयवस्था का उत्तरोत्तर विकास सभी देशों में समान रूप से है।

धर्मशास्त्रों में भी अर्थ को सभी कार्यों में मूल बताया है। 'अर्थमूलं कार्यम्' धन के संग्रह करने या व्यय करने में कोई प्रतिबन्ध नहीं है। धन तो अवश्य अर्जन करना चाहिए किन्तु धन के विसर्जन में धर्म की आज्ञा के अनुसार अनुपालन करना अति–आवश्यक है यही हमारे धर्म शास्त्रों के आदेश हैं। सन्तोष ही जीवन का सार है जीवन की हर यात्रा में सुख–दु:ख तो आयेंगे ही किन्तु सन्तोष से उसका निवारण किया जाये तो परम् सुख की प्राप्ति होती है। भगवद् गीता में कृष्ण कहते हैं–

सुख दुःखे समेकृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।

ततो युद्धाय त्रज्यस्व नैवं पापंमवात्स्यसि।।[13]

अर्थात् सुख–दुख, हानि–लाभ, जय–पराजय इन सबको समान समझना चाहिये ये जीवन के ही अंग हैं। अर्थ की अवहेलना मनुष्य तो क्या स्वयं त्रिलोकी के नाथ आशुतोष भगवान् शंकर भी नहीं कर सके। कर्म पुराण के अनुसार–जब वर्षा ऋतु प्रारंभ हुई तो सती ने बड़े प्रेम से भगवान शंकर से प्रार्थना की– कि हम कब तक बिना घर के वन में विचरण करेंगे। वर्षाकाल में बाहर रहना ठीक नहीं। इसलिए हमें अपने लिये भवन निर्माण कर लेना चाहिए। सती के वचन सुनकर भगवान बोले–हे प्रिये, मैं तो व्याघ्र चर्म पहनने वाला हूँ, मेरे पास गृह निर्माण के लिए धन नहीं है।[14] इस प्रकार अर्थ का अपना विशेष महत्व है। धन के लिए ही मनुष्य का जीवन प्रत्येक क्षेत्र में समर्पित है। मनुष्य जो भी कार्य करता है उसका मूल प्रयोजन अर्थोपार्जन की कामना रहती है, धर्म से अर्जित धन यश की धुरी है।

काम– काम का भी जीवन में महत्वपूर्ण स्थान है। 'काम' शब्द कम् धातु पर कर्म में धन प्रत्यय के संयोग से बनता है। 'काम्यते असौ कर्म्मणि धन' काम से काम्यते इति काम' हम व्युत्पत्ति से विषय इन इन्द्रियों के सम्पर्क से उत्पन्न होने वाला मानसिक आनन्द ही मुख्यतया काम कहलाता है। हम ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से पंच विषयों का आनन्द लेते है जैसे–नेत्र सुन्दर वस्तु को देखकर रूप के आनन्द को लेते हैं। जिह्वा तरह–तरह के व्यंजनों का स्वाद लेकर रस का आनन्द लेती है। नासिका सूंघकर गन्ध का अनुभव करती, कान संगीत के माध्यम से सुनने का आनन्द लेते हैं। ठीक इस प्रकार से सन्तान प्राप्त करने के लिये किये जाने वाले गृहसाश्रम के जीवन में गुह्येन्द्रिय अपने विषय का आनन्द लेती है। इस प्रकार रस, रूप, गन्ध, शब्द, स्पर्श इन पाँच विषयों के सम्पर्क से मिलने वाले मानसिक आनन्द को ही काम कहते हैं। यह काम प्राणियों के पुण्य कर्मो का उत्तत फल हैं।[15] मन का काम की प्रवृत्ति में बड़ा महत्व है मन की चंचलता के कारण ही इन्द्रियाँ स्व

विषयों की ओर आकृष्ट होती हैं। आकर्षण, काम रूप है। आकर्षण के सम्पर्क और सम्पर्क में उन्हें मानसिक आनन्द की अनुभूति होती है। काम सूत्र में काम का तात्पर्य है मन सहित इन्द्रियों का अपने–अपने विषयों में अनुकूल प्रवृत्ति को काम कहा जाता है।

अभिमानिक रसानुविद्धा यतः सर्वेन्द्रियप्रीतिः सः कामः।।[16]

धर्म तथा अर्थ ये दोनों पुरुषार्थ जीवन यात्रा के मुख्य साधन माने गये उसी प्रकार काम भी लोक यात्रा का मुख्य साधन माना गया है। क्योंकि मनुष्य जन्म लेन के उपरान्त ही तो धर्म में प्रवृत्त होगा अर्थ की आकांक्षा करेगा अथवा मोक्ष का अधिकारी बनना चाहेगा लेकिन काम के अभाव में यदि सृष्टि की उत्पत्ति ही न होगी तो शेष तीन पुरुषार्थ रह ही कहाँ जाते हैं। वास्तव में काम की अनुपस्थिति मे तो संसार में जीवों की उत्पत्ति ही असम्भव है। जब काम द्वारा सृष्टि की रचना होगी तभी शेष पुरुषार्थों की भी गणना हो पायेगी अन्यथा निर्मूल सृष्टि का आधार ही नहीं।

सृष्टि की उत्पत्ति एवं वृद्धि में काम बडा आवश्यक है। यही कारण है कि प्रजाओं की वृद्धि के लिए स्वयं भू–ब्रह्मा द्वारा आज्ञा द्वारा पूर्वकाल में पाकर दक्ष प्रजापित ने धर्म पूर्वक मैथुन द्वारा ही प्राणियों की सृष्टि की। कूर्मपुराण में ऐसा आता है कि पूर्वकाल में "दक्ष प्रजपति ने देवों, गन्धर्वों, ऋषियों, असुरों एवं नागों की सृष्टि की, किन्तु जब सृष्टि करने वाले उन दक्ष की वे प्रजायें नहीं बढीं तो उन्होंने धर्मपूर्वक मैथुन द्वारा ही प्राणियों की सृष्टि की। उन्होंने वीरण नामक प्रजापति की अश्वनी नाम की धर्मानिरत कन्या में एक सहस्त्र पुत्रों को उत्पन्न किया।"[17]

मनुष्य जीवन का मुख्य फल तत्व ज्ञान है। मनुष्य जीवन को स्वस्थ्य सुखी एवं सुरक्षित रखकर तत्वज्ञान के अनुकूल बनाये रखना काम का मुख्य फल है और इन्द्रिय प्रीति उसका गौण फल है।[18] धर्मशास्त्रों में उसकी पवित्रता को बनाये रखने के लिये नियम बनाये जिनके पालन करने से सुखमय जीवन यापन किया जा सके। साथ ही स्त्री के शील की भी रक्षा हो सकती है। अतः काम ही त्रिवर्ग में प्रमुख है जिसके कारण मनुष्य अर्थ एवं धर्म के उपार्जन का कार्य करता है। जीवन में काम की उपयोगिता के कारण ही मनुष्य को विवाह के सम्बन्ध में बांधा गया है। जिससे दो लक्ष्यों की पूर्ति होती है। एक के द्वारा तो काम की पिपासा की तृप्ति होती है और दूसरा जो मुख्य ध्येय है, जिसको हमारे समाज में पवित्र तथा आवश्यक माना जाता है, वह सन्तानोत्पत्ति। यह एक प्राकृतिक प्रक्रिया भी है। धर्मशास्त्रों में काम के महत्व को पूर्ण रूप से स्वीकार किया

गया है लेकिन साथ ही इस बात पर भी विशेष बल दिया गया है कि काम एक दायरे के अन्तर्गत सीमित होना चाहिए और यह दायरा धर्म द्वारा निर्मित किया गया हो अर्थात् काम की उपयोगिता होते हुये भी उसके धर्मपूर्वक उपयोग करने का आदेश शास्त्रों द्वारा दिया गया है परन्तु यह भी निर्विवाद रूप से सत्य है कि जीवन में सुख प्राप्त करने के लिये काम का होना भी अत्यन्त आवश्यक है।

पुरुषार्थ चतुष्टय के अन्तर्गत मोक्ष चतुर्थ स्थान पर है। मोक्ष पुरुषार्थो का अंतिम प्रतिफल है धर्म के द्वारा धारणा को बनाकर अर्थ व काम की सिद्धि करते हुये मोक्ष प्राप्ति के उपाय किये जाते हैं। उपनिषद् एवं गीता ने बहुधा मुक्ति, मोक्ष एवं अमृत या अमृत्व का प्रयोग किया है। सांख्यदर्शन में मोक्ष केवल प्रसीत्ति मात्र है क्योंकि बन्धन का सम्बन्ध पुरूष के साथ है ही नहीं। शब्दकल्पद्रुम के अनुसार मोक्ष कमशः मोक्ष और 'मुच' धातु से व्युत्पन्न होते हैं जिनका अर्थ सम्पन्न होना या छुटकारा पाना है। मुत्र्य मोचने धातु से औणादिक 'स' प्रत्यय करने से सिद्ध होता है। वास्तव में मोक्ष का तात्पर्य, जीवन मरण के चक से और परिणामस्वरूप सभी प्रकार के सांसारिक दुःखों से छुटकारा पाना है। मोक्ष शब्द की सांसारिक क्लेशों से मुक्त होने का एकमात्र महान शब्द है। इसलिए श्री अरविंद भारतीय विचारधारा का महान् "शब्द" मानते हैं।

समस्त धर्मशास्त्रों में ऋषि महर्षियों ने एक मत से स्वीकार किया है कि सबसे सरस महान् आनन्दमय पुरूषार्थ मोक्ष ही है, इसीलिए विष्णु पुराण में कहा है कि सांसारिक दुःख रूपी प्रचण्ड सूर्य के ताप से जिनका अन्तःकरण सन्तप्त हो रहा है, उन पुरूषों का मोक्ष रूपी कल्पवृक्ष की शीतल छाया को छोड़कर और कहाँ सुख मिल सकता है। यर्जुवेद में मुमुक्ष परम शक्ति से प्रार्थना करता है–

त्र्यम्बकं यजामहे सुगंधि पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारूकमिव बन्धान्मृत्योमुक्षीयकमामृतये।[20]

मोक्ष ही समस्त पुरूषार्थों एवं समस्त सुखों का सम्राट है। कोई विरला ही उसका अधिकारी बन सकता है अधिकांश लोगों के लिए यह आदर्शमात्र है।

मोक्ष का तो अर्थ यही है **'मुच्यते सर्वेदुः स्वबन्धनैर्यत्र सः मोक्षः**। इसका एक नाम मुक्ति भी है, मुक्ति शब्द भी मृच्लु मोचने इस धातु से 'क्तिनु' प्रत्यय होकर बना है अर्थात् बन्धे हुए प्राणी का बन्धनों से छूट जाना। छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार बन्धन से मुक्ति और शरीर का चलते रहना यह दोनों अवस्थायें एक दूसरे के अनुरूप हैं, अर्थात् परस्पर जीवन

मुक्त सम्पूर्ण मोक्ष प्राप्त कर लेना है। जिसे विदेह कैवल्य कहते है।[21] जो व्यक्ति ब्रह्मा का ज्ञान पाप्त कर लेता है वह पुण्य व पाप से रहित हो जाता है और शरीर छोड़कर ब्रह्मलोक में पहुँच जाता है वह लौटकर नहीं आता है अर्थात् आवागमन से मुक्त हो जाता है।

मोक्ष अथवा मुक्ति को दो प्रकार से कहा जा सकता है। प्रथम तो मृत्यृ के उपरान्त शरीर नाश होने पर ऐसा कहते सुना गया कि अमुक की शरीर से मुक्ति हुयी और दूसरा मरणोपरान्त स्वर्ग, लोक आदि का भोग करने के उपरान्त ब्रह्म के साथ मिल जाने का नाम मुक्ति है। ऋग्वेद भाष्य के अनुसाार दो प्रकार की मुक्ति है सुधोमुक्ति और कम मुक्ति। वर्तमान देह छूटते ही प्राप्त होने वाली मुक्ति को सधोमुक्ति कहते हैं इसी को विदेह मुक्ति की भी संज्ञा दी गई है तथा अर्चिराडि मार्ग के द्वारा कमशः तत् तत् लोकों में होते हुये ब्रह्म लोक में पहुँचकर चिरकाल तक वहाँ के दिव्य भोगों का अनुभव करके, अन्त में सब भोगों के अवसान होने पर पूर्ण ज्ञान उत्पन्न होकर ब्रह्म लोक के अन्त होने पर ब्रह्मदेव के साथ–साथ जो मुक्ति प्राप्त होती है वह कममुक्ति है।[22]

मोक्ष एक ऐसी स्थिति है, जिसमें केवल सांसारिक दुःखों का ही नहीं वरन् जन्म–मृत्यु श्रंखला का ही अन्त हो जाता है। एक भौतिक शरीर के विनाशोपरान्त अन्य नवीन शरीर की धारणा करना मोक्ष नहीं है और न विनाश मोक्ष है। मोक्ष आलौकिक सुख और दिव्य शान्ति की विलक्षण अवस्था है। सामान्यतः लोग मोक्ष का अर्थ मृत्यु से लेते हैं क्योंकि मृत्यु के माध्यम से इस भौतिक शरीर का त्याग हो जाता है शरीर के विनाश के साथ ही सुख दुःखादि की अनुभूति भी नष्ट हो जाती है। साधारण मनुष्य इस अवस्था को ही मोक्षावस्था मानने लगता है किन्तु मोक्ष तो मृत्यु से नितान्त पृथक परम शान्ति और आनंद ही दिव्य अवस्था का नाम है। क्योंकि यदि मृत्यु स्वयं मोक्ष है अथवा मुक्ति का साधन होती तो विश्व प्रत्येक प्राणी मुक्त हो गया होता। आत्म को पुर्नजन्म के बन्धन में न बंधना पड़ता। डॉ. राधाकृष्णन के शब्दों में यह एक प्रकार की अर्न्तदृष्टि है जो जगत के चित्र को ही बदल देती है सब वस्तुओं का नये सिरे से निर्माण करती है किन्तु यह निर्माण मुक्तात्मा के दृष्टिकोण से सम्बन्धित मुक्तात्मा के लिये।

हिन्दू संस्कृति अत्यन्त विशाल है। इस संस्कृति का एक सूत्र जीवन को उत्कर्ष की ओर अग्रसर करती है। जहाँ एक ओर ब्रह्म ज्ञान प्राप्त करने वाले को मोक्ष का अधिकारी सिद्ध किया गया है। वहीं दूसरी ओर हिन्दू धर्मशास्त्रों की यह मान्यता रही है कि वर्ण आश्रम धर्म के आधार पर मनुष्य अपने लक्ष्यों को पूर्ण करता है। वर्ण आश्रम में चारों वर्णों को स्व–स्व वर्ण के लिये बताये गये धर्मों की तथा आश्रम व्यवस्था में रहकर अपने

धर्मानुसार व्यवहार करना पड़ता है। धर्म, अर्थ, काम को भी वर्णों के मनुष्यों को अपने आश्रमों में रहकर अर्जन तथा करना पड़ता है।

यह एक व्यवहारिक प्रवृत्ति है लेकिन मोक्ष को प्राप्त करने के लिए व्यक्ति को आश्रम का सहारा लेना पड़ता है। आश्रम व्यवस्था में तृतीय व चतुर्थ आश्रम को मोक्ष प्राप्त करने का लक्ष्य माना गया है। अतः वर्णाश्रम धर्म के आधार पर मोक्ष का अध्ययन करना आवश्यक हो जाता है। धर्म, अर्थ तथा काम के उपभोग के पश्चात् ही मोक्ष की प्राप्ति होती है अतः चारों पुरूषार्थी का इस प्रकार सामंजस्य है कि बिना क्रमशः उपभोग के जीवन में आनन्द की अनुभूति नहीं हो सकती है। मनुष्य को अपने जीवन में धर्मशास्त्रों के अनुसार देवऋण, ऋषि ऋण और पितृ ऋण इन ऋणों से उऋण होना पड़ता है। ये ऋण आश्रमों के माध्यम से ही पूर्ण किये जा सकते हैं। मनुस्मृति के अनुसार मनुष्य को उपर्युक्त ऋणों को पूर्ण कर फिर मोक्ष का सेवन करना चाहिये–

आश्रमादाश्रमं गत्वा हुतहोमो जितेन्द्रियः।
भिक्षा बलिपरिश्रान्तः प्रवज्येत्य वर्धते ।।[23]

वर्णी के आश्रम व्यवस्था में रहकर ही पुरूषार्थी को पूर्णत सम्भव है। यही मनुष्य जीवन का परम पुरूषार्थ है। यही मनुष्य की जीवन की सफलता तथ कृतकृत्यता है और यही मनुष्य समाज का सबसे उच्चकोटि का परम पुरूषार्थ है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. मनुस्मृति	:	अध्याय–2	श्लोक 6
2. शब्द कल्पद्रुम	:	भाग–2	पृष्ठ 183
3. वायु पुराण प्रक्रियावाद	:	अध्याय–59	श्लोक 28
4. मनुस्मृति	:	अध्याय–8	श्लोक 15
5. मनुस्मृति	:	1–108	
6. श्रीमद्भागवद्गीता	:	अध्याय–3	श्लोक 35
7. श्रीमद्भागवद्गीता	:	अध्याय–18	श्लोक 37
8. चाणक्य सूत्र	:	1–12	
9. चणक्य सूत्र	:	7–28	
10. पाराशर स्मृति	:	अध्याय	पृष्ठ 186
11. म.हा.शान्ति पर्व	:	अध्याय 167	श्लोक 12–13
12. महाभारत शान्ति पर्व	:	12–27	

13. श्रीमद् भागवद्	:	7–6–10	
14. महाभारत अनुशासन पर्व	:	1	
15. श्रीमद्भागवद्गीता	:	अध्याय–2	श्लोक 28
16. कूर्म पुराण	:	अध्याय 1	श्लोक 24
17. पद्म पुराण सृष्टि खण्ड	:	अध्याय 52	श्लोक 40
18. मनुस्मृति	:	2–5	
19. मनुस्मृति	:	अध्यायस 4	श्लोक 1
20. अशोक कुमार लांड	:	भारतीय दर्शन में मोक्ष चिन्तन पृष्ठ–1	
21. ऋग्वेद	:	9–113–7	
22. परमानन्द	:	पृष्ठ 9	सूत्र 3–8
23. वृहदारण्यकोपनिषद	:	3–25	

एकात्म मानववाद में पुरूषार्थ की अवधारणा

डॉ. लक्ष्मी मेहर
वरिष्ठ शोधार्थी
शा. माधव महाविद्यालय
दर्शनशास्त्र, उज्जैन (म.प्र.)

भारतीय चिन्तन मानवी जीवन के सर्वांगीण विकास का चिन्तन है जो जीवन के सर्वमुखी विकास का मार्ग प्रशस्त करता है। हमारी भारतीय संस्कृति सम्पूर्ण सृष्ठि व जीवन का संकलित रूप में विचासर करती है। इसी कारण भारतीय संस्कृति का स्वरूप भी समग्रतावादी है।

उक्त विकास को ही पुरुषार्थ चातुष्ट्य के माध्यम से फलित किया गया है। इस पुरुषार्थ व्यवस्था से व्यक्तित्व के स्व के साथ–साथ समाज व राष्ट्र का भी उत्कर्ष होता है। इसके माध्यम से मानव अपने कर्म समपन्न करते हुए जीवन और जगत के प्रति निष्ठा कर्म की भावना को प्रस्तुत करता है। मानव भारतीय संस्कृति का अभिन्न अंग हैं अतः जिस समाज का अभिन्न अंग मानव है एवं दर्शानिक दृष्टिकोण भी मानवीय हो उसे **"एकात्म मानववाद"** की संज्ञा दी जा सकती है।[1] ऐसी ही दृष्टि के प्रणेता पं. दीनदयाल उपाध्याय जी आज भी प्रासंगिक हैं। उनका समस्त जीवन त्याग समर्पण व संघर्ष की एक मिसाल रहा है। वे एक कुशल संगठनकर्त्ता, राजनीतिज्ञ, समाजसेवक होने के साथ ही एक महान् दर्शानिक भी हैं। उनका कार्य व्यक्तिनिष्ठ न होकर तत्वनिष्ठ था, उन्होनें सदैव आदर्शों को दृष्टिगज रखते हुए जनमानस को सिद्धान्तों पर जीने क प्रेरणा प्रदान की है।

एकात्म मानववाद जीवन की प्रकृति के सम्पूर्ण खण्डों को स्वयं में समाहित करने वाली ऐसी विचारधारा है, जो प्रत्येक कालखण्ड की समस्त समस्याओं के व्यवहारिक समाधान हेतु प्रसंगिक सिद्ध हुई है। इस विचारधारा में सम्पूर्ण सृष्टि का विचार है।[2]

पं दीनदयाल ने राजनैतिक व्यवस्थाव अर्थतन्त्र का गहन चिन्तन मनन कर शुक्र, वृहस्पति व चाणक्य की भाँति आधुनिक राजनीति को शुचि व शुद्धता के धरातल पर स्थित करने की प्रेरणा प्रदान की। उनका विचार था कि हमारी संस्कृति, समाज व सृष्टि का ही नहीं अपितु मानवीय मन बुद्ध आत्म व देह का भी समुच्चय है। उनके इसी विचार दर्शन को 'एकात्म मानववाद' का नाम दिया गया, जिसे आज हम सभी 'एकात्म मानवदर्शन' के रूप में जानते हैं।

राष्ट्र का स्वरूपः–"चिति एवं विराट"

एकात्म मानव दर्शन राष्ट्रत्व के दो परिभिाषित लक्षणों को पुर्नजीवित करता है। जिन्हें उपध्याय जी ने "चिति" व " विराट" नाम दिया। चिति राष्ट्र की आत्मा है एवं विराट वह शक्ति है जो राष्ट्र को उर्जा प्रदान करती है।[3] चिति को राष्ट्र की एक वैदान्तिक अवधारणा माना गया है। 'व्यक्ति की आत्मा की भॉति ही राष्ट्र की आत्मा होती है उसे ही शास्त्रकारों ने "चिति कहा है"। चिति परम सुख का साक्षात्कार है राष्ट्र का चैतन्य 'चिति' है। चिति का आत्म साक्षात्कार करवाने वाले उचित कार्य ही संस्कृति है। यह चिति जनसमूह के प्रत्येक व्यक्ति में मातृभूमि के प्रति परम सुख की भावना के रूप से रहती है। वह सर्वोत्कृष्ट सुख जिसके समक्ष अन्य सब बातें फीकी लगें। इस "चिति" द्वारा प्रस्थापित होता है जिसकी झलक व्यक्ति के सब प्रकार के कार्यो मे दिखाई देती है। उसके समस्त व्यापार निःशेष चेष्टाएं, अखिल कर्म इसी "चिति" के प्रकाश से चैतन्य रहते हैं। जब तक "चिति" जागृत और निरामय रहती है तब तक राष्ट्र की अभ्युदय होता है एवं इसी चेतना के आधार पर राष्ट्र संगठित होता है "चिति" से जागृत हुई समष्टि की प्राकृतिक क्षात्रशक्ति अर्थात् अनिष्टों से रक्षा करने वाली शक्ति "विराट" कही जाती है।

चिति के मार्ग पर चलकर मानवीय एकता की अनुभूति एवं उसकी प्रगति में सहयोग प्रदान करते हुए चिति (आत्मा) के साक्षात्कार का प्रयास ही हमारे जीवन का लक्ष्य होना चाहिए। इसी के द्वारा हम अपनी समस्याओं का समाधान कर सकते हैं।इसी के आधार पर राष्ट्र के प्रत्येक मानव में प्रबल 'पुरुषार्थ' त्याग व तपस्या के भाव उद्दिप्त होंगे।[5]

जिसे पण्डित जी ने विराट कहा है उसे विराट पुरूष के हजार सिर हैं, हजार आँखें है, हजार पैर हैं। सम्पूर्ण पृथ्वी के चारों ओर से व्याप्त कर वह पुरूष दशांगुल भाग पर स्थिर हो गया। उसका मुख ब्राह्मण, मुख्य क्षत्रिय, जंघाएं वैश्य व पैर शुद्र हुए।[6]

पुरूषार्थ का अभिप्राय

वैदिक चिन्तन का मूलभूत निष्कर्ष है कि धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष जीवन के अनिवार्य लक्ष्य है इस सत्य ने भारतीय तत्व चिन्तन में बिन्दु के रूप में स्थान प्राप्त किया है। वैदिक औपनिषदिक पुराण तथा उत्तवर्ती वाडम्य में ज्ञान की कई विधाओं ने पुरुषार्थ को मानव जीवन का मुख्य उदेश्य मानकर अपने ध्येय को प्राप्त किया है एवं मोक्ष को जीवन का अन्तिम लक्ष्य स्वीकार किया।

''पुरुषाणाम् अर्थः पुरुषार्थः'' अथवा **पुरुषै अर्ध्यते इति पुरुषार्थः''**

मनुष्य के अभिष्ट विषय पुरुषार्थ में ही निहित है। धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष की प्राप्ति ही मानव के जीवन का लक्ष्य है। एक अन्य अर्थ में पुरुषार्थ का अर्थ उन कर्मो से है जिनके करने से पुरुषत्व सार्थक है। व्यवहारिक अर्थ के रूप में इसे मूल्य भी का जा सकता है। यह पुरुषार्थ धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष मानव के स्वाभाविक कर्त्तव्य है जिनके पालन करने में परम् आनन्द की प्राप्ति होती है यही मनुष्य को जीवन के परम् लक्ष्य तक पहुँचाने का मार्ग है।[7]

पं. दीनदयाल ने भी अपने दार्शनिक चिन्तन में पुरुषार्थ के महत्व को स्वीकारते हुए इसे''तरूणोपाय'' बताया है। मानव के शरीर मन बुद्धि व आत्मा की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु तथा उसकी सभी इच्छाओं की संतुष्टि एवं उके सर्वांगीण विकास की दृष्टि से मानव के समक्ष हिन्दू धर्म में कर्त्तव्य के रूप में चतुर्विध पुरुषार्थ की कल्पना की गई है।[8]

उपाध्याय जी के अनुसार–'सभी मानव देह, मन, बुद्धि एवं आत्मा का सम्मिलित तत्व है। मानव की यही समग्रता उसे समाज मे रहने के योग्य बनाती है। उनका मानना था कि मनुष्य को निर्मित करने वाले यह चार पुरुषार्थ जिन्हें चतुष्टय के रूप में भी निर्दिष्ट किया गया है इनमें एकरूपता होना ही चाहिए।[9]

धर्म पुरुषार्थ

धर्म व्यक्ति व समाज की प्रथम आवश्कयता है क्योंकि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। यही सामाजिकता मानव धर्म का परिचायक भी है। अतः धर्म को आधारभूत पुरुषार्थ कहा गया है। धर्म में उन सभी आचार संहिताओं व मूलभूत सिद्धान्तों का अन्तर्भाव होता है जिनमें 'अर्थ', काम व मोक्ष की सिद्धि होती है। धर्म द्वारा ही अर्थ सिद्धी होती है। यदि व्यापार भी करना है तो व्यक्ति को सदाचरण, संयम, त्याग, अक्रोध, क्षमा, धृति, सत्य आदि धर्म के लक्षणों का निर्वाह करना पड़ेगा इन गुणों का सहारा लिये बिना व्यापारी व्यापार नहीं कर सकता उसे धर्म को साधन के रूप में अपनाना ही पड़ेगा।[10]

राज्य के आधार भी धर्म ही हैं। सिर्फ दण्डनीति व नियम कानूनों के सहारे हम राज्य को नहीं चला सकते। धर्म के अभाव में राज्य भी अराजक हो जायेगा। शास्त्रों में वर्णित प्रत्येक व्यक्ति के अपने नियत कर्म अर्थात् 'कर्त्तव्यकर्म' हैं। देशकाल, स्थान, वर्ष और वर्णाश्रम के अनुसार कर्म करना ही धर्म कहलाता है। धर्म प्रत्येक व्यक्ति का अपना निजी होता है। पश्चिमी लोगों ने कहा है **''आनेस्टी इज द बेस्ट पॉलिसी''** अर्थात्

सत्य निष्ठा ही श्रेष्ठ नीति है। भारतीय चिन्तन के अनुसार **"आनेस्टी इज नॉट पॉलिसी बट प्रिंसिपल"** अर्थात् सत्य निष्ठा हमारे लिये नीति नहीं है बल्कि सिद्धान्त है। यही धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थ धर्म के आधार पर चलता है।

अर्थ पुरुषार्थ

अर्थ द्वितीय पुरुषार्थ माना गया है। भारतीय संस्कृति में कभी भी अर्थ की उपेक्षा नहीं की गई क्योंकि जैसा कि हम पहले कह चुके हैं कि अर्थ को धर्म का साधन माना जाता है। कहा भी गया है **"धनाद् धर्मम्"** धन से धर्म की सिद्धि होती है अर्थ का प्रयोग भी धर्म की तरह अत्यन्त व्यापक है।

भारतीय चिन्तन में 'अर्थ' मात्र अर्थ संबंधी पक्षों पर ही ध्यान केन्द्रित नहीं करता अपितु राजनीति दण्ड नीति आदि विषयों को भी वह अपने क्षेत्र में सम्मिलित करता है।। यद्यपि धर्म अत्यन्त महत्वपूर्ण है कहा गया है– **सूखस्य मूलम् धर्मः, मूलयर्धः**।[12] हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि अर्थ के अभाव में धर्म नहीं टिक सकता है। एक कहावत है।

बुभुक्षितः किं न करोति पापम् क्षीणाः नराः निष्करूणाः भवन्ति।[13] अर्थात्– एक भूखा व्यक्ति कुछ भी कर सकता अपनी भूख को शान्त करने के लिये। विश्वामित्र जैसे महान् ऋषि ने भूख से पीड़ित होकर अपनी देह धारण करने के लिये चाण्डाल के घर में चोरी करके कुत्ते का झूठा मांस खाया था। यही कारण है कि हमारे यहाँ आदेश में कहा गया है कि अर्थ का कभी अभाव नहीं होना चाहिए क्योंकि अर्थ ही धर्म को बनाए रखने में सहायक है। इसी तरह दण्डनीति का अभाव अर्थात् अराजकता भी धर्म के लिए घातक है। जहाँ धर्म को आधारभूत पुरुषार्थ माना गया है वहीं अर्थ साधन पुरुषार्थ है। अर्थ को धर्म का आधार एवं धर्म का रक्षक कहा जाता है। किसी को भी कष्ट दिये बिना किसी को धोखा दिये बिना आवश्यकता के अनुसार धन का संग्रह करना चाहिये अर्थ पुरुषार्थ व्यक्ति की भौतिक व प्रशासनिक व्यवस्था से संबंधित पुरुषार्थ है।[14]

उक्त कार्य हेतु आवश्यक द्रव्योपार्जन करना ही अर्थ है। काम को मन की संतुष्टि का गुण माना गया है। मानव मन अत्यन्त चंचल है एवं मनुष्य की कामनाएँ अनन्त हैं। काम पुरुषार्थ का सम्बन्ध ही मानव की कामनापूर्ति से है। काम पुरुषार्थ को धर्मारुढ़ होकर ही साधना सम्भव है जब कामनाएँ धर्म व अर्थ के नियत्रण से बाहर हो जाती है उस स्थिति में मनुष्य पुरुषार्थहीन होने लगता है। चूँकि पुरुषार्थ काम में धर्म व अर्थ पुरुषार्थ के पश्चात् काम पुरुषार्थ है। अतः हम यदि धर्म व अर्थ की अवहेलना करते हैं तो काम विकास बन जाता है। षट्विकारों में "काम" प्रथम विकार माना जाता है।[15]

काम पुरुषार्थ

जीवन को निरन्तरता प्रदान करने हेतु आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक महत्त्वकांक्षाओं को सफल बनाने के लिये साधन की प्राप्ति ही "काम" है। कामशास्त्रों के अनुसार "कामनाओं की पूर्ति करने से ही सभी भौतिक कामनायें मिट जाती हैं।"कामनाओं की पूति में ही कामनाओं का अंत छिपा है। जब कर्त्तव्य कर्मपूर्ण हो जाता है तब ईश्वर प्राप्ति की कामना ही शेष रह जाती है तभी जीव भगवान् की कृपा का पात्र होता है।

काम का सम्बन्ध मानव की सभी कामनाओं की पूर्ति से है काम पुरुषार्थ भी धर्म के सहारे ही साधा जा सकता है। काम मन की संतुष्टि का गुण है।

अपनी कामनाओं की पूर्ति धर्म अनुसरा साधनों के द्वारा करना ही पुरुषार्थ है। धर्महीन अर्थ को उच्छश्रृंखल बना देता है। काम के अधिक प्रभावित होने पर धर्म व अर्थ दोनों का ह्रास होने लगता है।[16]

काम पुरुषार्थ को यदि धर्म का आधार बना लिया जाए तो उससे अनेक प्रकार की कलाओं जैसे साहित्य, संगीत, चित्रकला, नृत्यकला आदि विविध कलाओं का जन्म होता है मन, वासनाओं की ओर नहीं भटकता। यह कलाएं मनुष्य का मनोरंजन तो करती ही है साथ ही समाज का सम्यक विकास भी करती है। जब मन संस्कार युक्त होता है तो उससे उपभोग की लालसा कम होने लगती है। संयम व साधना में मन को आनन्द प्राप्त होने लगता है तथा व्यक्ति का "काम पुरुषार्थ" सार्थक सिद्ध हो जाता है। जीवन जीने की कला, साहित्य, विविध कलाएं तथा मनोविज्ञान "काम पुरुषार्थ" के ही विषय हैं।[17]

मोक्ष

अन्त में उक्त तीनों साधनों के साध्य रूप अर्थात् वर्तमान जीवन की असिराता का अनुभव कर पारलौकिक परम साध्य की प्राप्ति करना ही मोक्ष है। धर्मानुसार सभी कामनाओं का सहज भाव से अंत हो जाना ही "मोक्ष" कहलाता है। भगवान् की कृपा प्राप्त होने पर ही सम्पूर्ण समर्पण के साथ ही सभी सांसारिक कामानाओं का अन्त हो जाता है।

मोक्ष परम् पुरुषार्थ की स्थिति है। यह भौतिक आवश्यकता व संस्कारित मन से ऊपर की स्थिति है। इस स्थिति में मनुष्य अर्थ व काम सम्बन्धी प्रभाव व अभाव से प्रभावित नहीं होता है। मनुष्य कामनाजयी बनकर सभी कामनाओं पर विजय प्राप्त कर लेता है तब तनाव घृणा का उसमें अंश नही रहता। जब तक मानव धर्म के अनुसार आचरण करते हुए सामाजिक जीवन नही जीता, भौतिक आवश्यकताओं की संतुष्टि के लिए कर्म नहीं करता अपनी सभी चित्त्वृत्तियों को संस्कारित नहीं करता। वह मोक्ष पुरुषार्थ को प्राप्त नहीं कर सकता।

यद्यपि मोक्ष को परम पुरुषार्थ माना है तो भी अकेले मोक्ष के प्रयासों से मानव का कल्याण नहीं हो सकता अन्य पुरुषार्थ को अनदेखा करने वाला कभी मोक्ष का अधिकारी नहीं हो सकता बल्कि विशेष सभी पुरुषार्थों को लोक संग्रह के विचार से निष्काम भाव से करने वाला व्यक्ति ही मोक्ष का अधिकारी होगा।[18]

जो व्यक्ति कमशः प्रथम तीन पुरुषार्थों का निरन्तर आचरण करता है उसे चौथे पुरुषार्थ की प्राप्ति सहज रूप से हो जाती है।

धर्मानुसार सभी कामनाओं का सहज भाव से अंत हो जाना ही "मोक्ष" कहलाता है। भगवत् कृपा प्राप्त हो जाने पर उपाध्याय जी महाभारत का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं–"विदुरजी ने कहा, अर्थ बंधन कारक है। धर्म बंधन कारक है और काम तो बंधनकारक है ही सबसे बड़ी वस्तु मोक्ष।" मोक्ष प्राप्ति के पश्चात कुछ भी पाना शेष नहीं रहता फिर कोई कामना भी नहीं रहती इसलिए निष्काम भाव से मोक्ष को पा लेना ही सबसे बड़ा पुरुषार्थ है। विदुर के इस विवाद का अन्त युधिष्ठिर ने किया। उन्होंने कहा कोई भी पुरुषार्थ बड़ा नहीं है चारों को जो एक–साथ लेकर चलेगा, वही पूर्ण है एक को पाने का जो प्रयास करेगा, वह अधूरा है और एक को प्राप्त करने का प्रयास करने वाला पापी भी है एक का विचार करनाा मानव के टुकड़े करना है किन्तु यह सही है कि मानव जीवन के टुकडे नहीं किए जा सकते। अतः चतुपुरुषार्थी का एकात्म व समग्र विचार करना आवश्यक है।[19]

अंततः हम कह सकते हैं कि दीनदयाल जी वर्तमान समय में मानव दुःख का बहुत बड़ा कारण यह मानते हैं कि वह सम्पूर्ण पुरुषार्थ के बजाय अर्थ पुरुषार्थ की प्राप्ति हेतु ही अपना सम्पूर्ण समय व शक्ति लगा देते हैं। पं. जी के अनुसार "पेट भरने के लिए (भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु) दो, तीन घंटे ही पर्याप्त होने चाहिए।" शेष समय चिंतन, मनन,साहित्य सेवा आदि में लगाना चाहिये।[20]

चर्तुपुरुषार्थ के महत्व को प्रतिपादित करते हुए उपाध्याय जी इन्हें 'तरुणोपाय' बताया है। "धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चार पुरुषार्थों पर आधारित हिन्दू जीवन दर्शन ही हमें संकट से उबार सकता है विश्व की सब समस्याओं का उत्तर समाजवाद नहीं हिन्दुत्ववाद है।

सन्दर्भ ग्रन्थ :–

1. एकात्म मानववाद–तत्त्वमीमांसा सिद्धान्त विवेचन–दीनदयाल उपाध्याय, एकात्म मानव दर्शन अनुसंधान एवं विकास प्रतिष्ठान–2017 पृ. 82
2. एकात्म मानववाद के प्रणेता–दीनदयाल उपाध्याय–अमरजीत सिंह,प्रभात पेपर बैक्स, 2016 पृ. 9

3. एकात्म मानववाद के प्रणेता–दीनदयाल उपाध्याय–अमरजीत सिंह,प्रभात पेपर बैक्स, 2016 पृ. 222
4. दीनदयाल उपाध्याय,राष्ट्र जीवन की दिशा''रामशंकर अग्निहोत्री, भानुप्रदात्त शुक्ल–राष्ट्रधर्म पुस्तक प्रकाशन लखनऊ,अध्याय–राष्ट्र का स्वरूप, चिति पृ.61
5. राष्ट्र चिन्तन–पं.दीनदयाल उपाध्याय, लोकहित प्रकाशन, 2005, पृ. 47
6. पं.दीनदयाल उपाध्याय कृतत्व एवं विचार, डॉ.महेशचन्द्र शर्मा, प्रभात पेपर बैक्स,2015 पृ. 325
7. भारतीय दर्शन कोश–डॉ.नरेन्द सिंह महला,जैन प्रकाशन, 2004 पृ.154
8. पं.दीनदयाल उपाध्याय कृतत्व एवं विचार, पृ. 347
9. भारतीयता के संचारक, पं.दीनदयाल उपाध्याय, संजय द्विवेदी,विश्डुम पब्लिकेशन नई दिल्ली, 2015 पृ. 61,62
10. वही कृत्तत्व एवं विचार पृ. 345
11. एकात्म मानववाद–मान्स गोवलकर,दीनदयाल उपाध्याय–सुरूचि प्रकाशन,नई दिल्ली, 2012 पृ.27
12. दीनदयाल उपाध्याय–भारतीय अर्थनीति,विकास की एक दिशा–अध्याय–2 :भारतीय संस्कृति में अर्थ, रामधर्म पुस्तक प्रकाशन, लखनऊ,1958 पृ. 16
13. राष्ट्रीय जीवन की दिशा–दीनदयाल उपाध्याय, राष्ट्रधर्म पुस्तक प्रकाशन, लखनऊ,अध्याय–2, एकात्म मानववाद पृ. 26
14. कृत्तत्व एवं विचार, पृ. 346
15. कृत्तत्व एवं विचार, पृ. 346
16. कृत्तत्व एवं विचार, पृ. 346
17. कृत्तत्व एवं विचार, पृ. 347
18. राष्ट्रीय जीवन की दिशा–क. 15, अध्याय–18, सारांश जीवन दर्शन,पृ. 193
19. दीनदयाल उपाध्याय बौद्धिक वर्ग पंजिका,संघ शिक्षा वर्ग राजस्थान,11 जून 1960, क.29 पृ. 79

भारतीय संस्कृति में आश्रम व्यवस्था की परिपूर्णता 'पुरुषार्थ'

डॉ. नोएल दान
सहा.प्राध्यापक एवं विभागाध्यक्ष
दर्शन शास्त्र विभाग
शा.मानकुँवर बाई कला एवं वाणिज्य स्वशासी
महिला महाविद्यालय, जबलपुर (म.प्र.)

'पुरुषार्थ' मानव जीवन के लक्ष्य का ही दूसरा नाम है। यह लक्ष्य नैतिकता का क अत्यन्त ही महत्वपूर्ण अंग होता है। शायद ऐसा कहना अतिश्योक्ति नहीं है कि पुरुषार्थ नैतिकता का सबसे महत्वपूर्ण अंग है। हिन्दू नीतिशास्त्र में पुरुषार्थ की चर्चा बहुत महनता के साथ की गई है। पुरुषार्थ–परक अवधारणा के ऐतिहासिक विकास पर ध्यान दिया जाये तो पुरुषार्थ का चतुर्प्रकारपरक रूप जो हिन्दू संस्कृति के परवर्ती काल में पाया जाता है वैदिक काल में नहीं पाया जाता था। वैदिक काल में पुरुषार्थ संबंधी भेदपरक अवधारणा पाई ही नहीं जाती थी। इस संदर्भ में हम यदि प्रारंभिक वैदिक साहित्य में दृष्टिपात करें तो हम पायेगें कि इस समय आर्य लोगों की यही महत्वाकांक्षा रहती थी कि वे अधिक से अधिक काल तक जीवित रहकर सुखमय जीवन व्यतीत करें और अमतत्व को प्राप्त करें। इस संबंध में तारापाद चौधरी ऋग्वेद, अर्थववेद, काथक संहिता, पंचविश ब्राह्मण, तैत्तिरीय संहिता तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण जैसे प्राचीन ग्रन्थों की उक्तियों के आधार पर कहते है। कि आर्य लोग इस जीवन को अत्यन्त प्रिय मानते थे और इसमें सौ वर्षों तक रहकर सुखी जीवन बिताते हुए तथा संतानोत्पत्ति कर एक प्रकार से अपने को कायम रखकर अमरतत्व को पाना चाहते थे।

अतः स्पष्टतः कहा जा सकता है कि वैदिक काल के प्रारंभ में चार प्रकार के पुरुषार्थ की अवधारणा थी ही नहीं। उस समय आर्य सौ वर्षों तक जीकर अधिकाधिक सांसारिक सुखों का उपभोग कर मृत्यु के बाद स्वर्ग जाकर सुखों का उपभोग ही करना चाहते थे। ब्राह्मण–काल में पुनर्जन्म की अवधारणा स्पष्ट हो चुकी थी पर पुनर्जन्म परलोक मे ही हो सकता था इस संसार में नहीं। मनुष्यों का इस संसार में बार–बार जन्म लेना, जो पुनर्जन्म का प्रचलित अर्थ है, स्पष्ट रूप से उपनिषद् काल में ही प्रतिपादित हुआ जीव के जन्म–मरण का चक्र तक तक चलता ही रहता है जब तक कि वह जीव सांसारिक बन्धन से मुक्त नहीं हो जाता।[1] अतः कोई भी जीवात्मा वास्तविक स्थायी सुख तभी प्राप्त कर सकती है जब वह सांसारिक बन्धन से पूरी तरह मुक्त हो जाती है। अतः

कोई भी जीवात्मा वास्तविक स्थायी सुख तभी प्राप्त कर सकती है जब वह बंधन से पूरी तरह मुक्त हो जाती है और यही मोक्ष है, यही सही पुरुषार्थ भी है। इससे ज्यादा उत्कृष्ट और कोई पुरुषार्थ नहीं हो सकता। अतः जहाँ अर्थ, काम और धर्म, पुरुषार्थ अवश्य हैं, वहीं मोक्ष परम पुरुषार्थ है।[2]

"पुरुषार्थ" इसका शाब्दिक अर्थ है, 'पुरूष' द्वारा प्राप्त करने योग्य। आजकल की श्ब्दावली में इसे 'मूल्य' कह सकते हैं। भारतीय दर्शन में चार पुरुषार्थ माने गये हैं (1) धर्म, (2) अर्थ, (3) काम, (4)मोक्ष। धर्म का अर्थ है जीवन की वैध कामनाएँ और मोक्ष का अभिप्राय है जीवन के सभी प्रकार के बन्धनों से मुक्ति। प्रथम तीन को प्रवर्ग और अन्तिम को अपवर्ग कहते हैं। इन चारों का चार आश्रमों से सम्बन्ध है। प्रथम आश्रम ब्रह्मचर्य धर्म का दूसरा गार्हस्थ धर्म एवं काम का तथा तीसरा वानप्रस्थ एवं चौथा सन्यास मोक्ष का अधिष्ठान है। यों धर्म का प्रसार तो पूरे जीवन काल में है किन्तु यहाँ धर्म का विशेष अर्थ है अनुशासन तथा सारे जीवन को एक दार्शनिक रूप से चलाने की शिक्षा, जो प्रथम ब्रह्मचर्याश्रम में ही सीखना पड़ता है। इन चारों पुरुषार्थ में भी विकास परिलक्षित है, यथा धर्म से पुनः मोक्ष की प्राप्ति होती है। चार्वाक दर्शन केवल अर्थ और काम को पुरुषार्थ मानता है।[3]

उल्लेखनीय है कि वेदों की भाँति उपनिषद् भी कर्मवाद, पुनर्जन्म के सिद्धान्त, आत की अमरता और ब्रह्माण्ड की एक परम सत्ता को पूर्णरूपेण स्वीकार करते हैं। इन सभी सिद्धान्तों का उपनिषदों में वर्णाश्रम–धर्म तथा जीवन के 'चार पुरुषार्थों' के सिद्धान्त के भी स्वीकार किया गया है जिसका प्रतिपादन बैदिक युग में ही किया जा चुका हैं। ऋग्वेद के पुरूष सूक्त में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णो का उल्लेख किया गया है। इसी प्रकार जीवन के चार पुरुषार्थों अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष का वैदिक काल में उदय हो चुका था किन्तु उसी समय अर्थ, काम तथा धर्म की प्रधानता रही और मोक्ष को अधिक महत्व दिया गया। परन्तु मानव जीवन के चार आश्रमों तथा पुरुषार्थों के सिद्धान्तों को स्वीकार करते हुए भी उपनिषदों ने मोक्ष और सन्यास को सर्वाधिक महत्व दिया। उपनिषद्कारों ने मुक्ति अथवा मोक्ष को ही जीवन का सर्वोच्च एवं अतिम ध्येय माना और अर्थ, काम तथा धर्म को उसके साधन के रूप में स्वीकार किया। उनके मतानुसार सांसारिक दुःखों तथ बन्धनों और जन्म–मरण के चक से मुक्त होकर जीव का नित्य एवं शाश्वत् ब्रह्म में जाना अथवा उसके साथ पूर्ण तादात्म स्थापित कर लेना ही मोक्ष है और

यही मनुष्य के जीवन का अंतिम लक्ष्य है। अहिंसा, सत्य ,दान, दया और नम्रता, आत्म त्याग, इन्द्रियनिग्रह आदि समस्त नैतिक सद्गुण इसी मोक्ष प्राप्ति के साधन है। अतः उपनिषदों में अन्य तीन आश्रमों की अपेक्षा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ एवं वानप्रस्थ तथा तीन पुरुषार्थों अर्थ, काम और धर्म को आवश्यक मानते है फिर भी उन्होंने सन्यास को अधिक महत्व दिया। इसी कारण अधिकाँश विद्वानों का मत है कि वैदिक कालीन जीवन–दर्शन के विपरीत उपनिषद् कालीन जीवन दर्शन में निवृत्ति मार्ग की ही प्रधानता है। जीवन के सुख भोग के स्थान पर सन्यास और वैराग्य को महत्व देने वाले इस निवृत्ति मार्ग का उपनिषद कालीन समाज पर बहुत व्यापक प्रभाव पड़ा जिसके फलस्वरूप लोग संसार को नश्वर तथा समस्त सुखों को क्षणिक मानकर भौतिक प्रगति के प्रति उदासीन हो गए। उपनिषद कालीन समाज पर निवृत्ति मार्ग के इसी प्रभाव का विवेचन करते हुये दिनकर जी ने लिखा है कि चूँकि मोक्ष का सिद्धान्त निरूपित करने में बार–बार जीवन की दुःखपूर्णता की चर्चा की गई इसलिए समाज में एक प्रकार का निराशावाद फैलने लगा और लोग जीवन में उस उत्साह को खोने लगे जो उत्साह वेदकालीन भारतवासियों की विशेषता थी। उपनिषद्कारों ने सन्यास और वैराग्य की भावना को प्रेरित किया। अतः पहले जहाँ लोग सांसारिक सुखों के भोग के लिये डटकर परिश्रम करने में आनन्द मानते थे, वहाँ अब वे गृहास्थाश्रम को छोड़कर असमय ही वैराग्य और सन्यास लेने लगे।[4]

वेदों तथा उपनिषदों में प्रतिपादित आश्रम तथा पुरुषार्थ की व्याख्या का अनुसरण करके मनुष्य व्यवहारिक एवं संतुलित जीवन प्राप्त कर सकता है। इसकी सहायता से मनुष्य अपने समाज तथा प्राणी मात्र के प्रति अपने मूल नैतिक कर्त्तव्यों का निर्धारण कर सकता है। वेदों और उपनिषदों में जिन सद्गुणों का विशेष महत्व दिया गया है वे मनुष्य के लिए आज भी उतने ही आवश्यक हैं जितने उस प्राचीन युग में थे। आज जब संसार में वैयक्तिक, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर हिंसा, असहनशीलता, अन्याय, शोषण, स्वार्थ परायणता आदि बुराईयाँ बढ़ती जा रही हैं ,उपनिषदों द्वारा बताए गए आत्मत्याग, संयम, सत्य, दानशीलता, दया, अहिंसा आदि सद्गुणों का विशेष महत्व है। इन सद्गुणों के अनुरूप आचरण करके ही मनुष्य नैतिक दृष्टि से उत्कृष्ट जीवन व्यतीत कर सकता है। इससे मानव जीवन के सम्बन्ध में भारतीय मनीषियों के गंभीर चिन्तन का औचित्य और उनके द्वारा प्रतिपादित नैतिक दर्शनकी सार्वभौमिकता एवं सार्वकालिक उपादेयता स्पष्टतः प्रमाणित होती है।

वेदों और उपनिषदों मे मनुष्य के जीवन के लिए जिन चार आश्रमों तथा पुरुषार्थों को आवश्यक माना गया है उनके द्वारा व्यक्ति एवं समाज का पूर्ण विकास संभव है। अपने जीवन के प्रथम पच्चीस वर्षों में मनुष्य समस्त इच्छाओं एवं कामनाओं को नियन्त्रित करके पूर्णरूपेण ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए विद्याअध्ययन करना चाहिए। जीवन का यह प्रारंभिक काल मनुष्य के सम्पूर्ण शारीरिक एवं मानसिक विकास का काल है। इस सर्वांगीण विकास के बाद ही वह जीवन के आगामी पच्चीस वर्षों में उचित उपायों द्वारा धनोपार्जन करके गृहास्थाश्रम में अपनी इच्छाओं तथा कामनाओं की तृप्ति कर सकता है। गृहस्थाश्रम के यह पच्चीस वर्ष मनुष्य के लिए संयम पूर्ण सुख–भोग का समय है। इस आश्रम मे मनुष्य के लिए धर्म सम्मत अर्थ और काम का विशेष महत्व है। इसके पश्चात् वानप्रस्थ मे पच्चीस वर्ष तक दूसरों का मार्गदर्शन करते हुए मनुष्य को निःस्वार्थ सेवा करनी चाहिए। इच्छओं और कामनाओं की तृप्ति के पश्चात् वह अपने व्यवहारिक अनुभव और ज्ञान द्वारा समाज की उन्नति में ही निश्चित ही महत्वपूर्ण योगदान करता है। वानप्रस्थ में आत्म चिंतन और ईश्वरोपासना द्वारा अपने आपको जीवन के अंतिम आश्रम सन्यास के लिये तैयार करना भी मनुष्य का आश्यक कर्त्तव्य माना गया है। सांसारिक सुखों का संयमपूर्ण उपभोग करने तथा सामाजिक कर्त्तव्यों की पूर्ति करने के पश्चात् ही सन्यास लेकर जीवन के अंतिम वर्षों में मनुष्य को अपनी आध्यात्मिक उन्नति एवं मुक्ति के लिए प्रयास करने के साथ–साथ निःस्वार्थ भाव से मनुष्य मात्र के कल्याण के लिए प्रयत्न करना भी सन्यासी का आवश्यक कर्त्तव्य है। इस अंतिम आाश्रम में उसके लिए अर्थ और काम के स्थान पर धर्म तथा मोक्ष का ही विशेष कर्त्तव्य है। इस प्रकार वेदों और उपनिषदों द्वारा बताए गए मानव जीवन के चार आश्रमों चार पुरुषार्थों के अनुरूप आचरण करने से व्यक्ति एवं समाज दोनों का संतुलित विकास संभव है। इसी कारण सम्मिलित रूप से वेदों तथा उपनिषदों का उक्त व्यवहारिक एवं संतुलित नैतिक दर्शन किसी युग विशेष तक सीमित नहीं है अपितु मनुष्य के लिए उसकी सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक उपादेयता है।[5]

'पुरुषार्थ' एवं आश्रम व्यवस्था परस्पर गहनता के साथ जुड़े हुए हैं। आश्रम के विभिन्न चरणों में पुरुषार्थ के अनुरूप आचरण की अपेक्षा मानव से की जाती है और इसका एक विशिष्ट महत्व भी है। सर्वप्रथम धर्म मनुष्य को कर्त्तव्यों सत्कर्मों एवं गुणों की ओर से ले जाता है। यह व्यक्ति की अनेक रूचियों, इच्छाओं, आकांक्षाओं, आवश्यकताओं आदि के बीच एक संतुलन बनाये रखता है। आचार में धर्म का फलीभूत होने वाला कहा गया है तथा आचार एवं सदाचार को धर्म का लक्षण माना गया है।[6]

'अर्थ' का क्षेत्र धर्म की अपेक्षा अधिक व्यापक है। शरीर को अर्थ की उसी प्रकार आवश्यकता होती है जिस प्रकार आत्मा के लिए मोक्ष, बुद्धि के लिये धर्म तथा मन के लिए काम की आवश्यकता होती है। चाणक्य ने यह प्रतिपादित किया है कि अर्थ धर्म का मूल है। अर्थ को सांसारिक जीवन का मूल कहा गया हैं अर्थ के बिना मानव जीवन संभव नहीं। हिन्दू शास्त्रकारों ने धन को पुरुषार्थों जीवन में स्थान जीवन में स्थान देकर इसे उचित मानवीय आकांक्षा माना है। जिसके जीवन में अर्थ नहीं वह अपने कर्त्तव्यों का समुचित पालन करने में सक्षम नहीं होता है। महाभारत में कहा गया है कि अर्थ उच्चतम धर्म है प्रत्येक वस्तु उस पर निर्भर करती है अर्थ सम्पन्न लोग सुख से रहते हैं अर्थ रहित लोग मृत के समान हैं किसी एक के धन का क्षय करते हुए उसके त्रिवर्ग को प्रभावित किया जा सकता है। धर्मशास्त्रों की सम्मति है कि अर्थ संचयत धार्मिक आधार पर होना चाहिए तथा अनैतिक व अधार्मिक साधनों से अर्जित धन दुःखद और निन्दनीय है।[7]

भारतीय धर्म दर्शन में प्रतिपादित किया गया है कि काम का मुख्य लक्ष्य सन्तानोत्पत्ति एवं वंश वृद्धि करना है। काम का सर्वोच्च और आध्यात्मिक लक्ष्य पति–पत्नि में मानव प्रेम, परोपकर तथा सहयोग की भावनाओं का विकास करना है। महाभारत में कहा गया है कि धर्म, अर्थ प्राप्ति का कारण है और काम अर्थ का फल है। मनु ने काम को तमोगुण के लक्ष्य से युक्त माना है कौटिल्य ने काम को अंतिम श्रेणी में रखते हुये धर्म, अर्थ को बिना बाधा पहुँचाए इसके पालन का निर्देश दिया है।[8] गीता में कहा गया है कि कामी व्यक्ति में बुद्धि नहीं होती। पुरुषार्थों के लिये बुद्धि और विवके वांछनीय है। इंद्रियाँ जिसके वश में होती हैं उसकी बुद्धि स्थिर होती है।[9]

मनु के अनुसार तीनों ऋणों देवऋण, ऋषिऋण और पितृऋण को पूरा करके ही मन को मोक्ष में लगाना चाहिए। इन ऋणों का शोधन किये बिना मोक्ष का सेवन करने वाला नरकगामी होता। मनुस्मृति के ही अनुसार मोक्ष की प्राप्ति में संलग्न व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि वह वेदों का ज्ञान प्राप्त करें। धर्मानुसार पुत्रों को उत्पन्न करें, यज्ञों का अनुष्ठान करें और तब मोक्ष का निवेदन करें । मनु के अनुसार इन्द्रिय विरोधी विरोधी, राग–द्वेष का त्यागी और अहिंसा में लगा हुआ व्यक्ति ही मोक्ष योग्य होता है। मोक्ष प्राप्ति के लिए विशुद्ध चरित्र आवश्यक है क्योंकि इन्द्रियां मन को उद्वेलित और भ्रमित करती हैं। अतः इन्द्रियां निरोध और आसक्तिहीनता भी मोक्षार्थी व्यक्ति के आवश्यक गुण माने गये हैं।

अतः पुरुषार्थ के महत्व का उल्लेख करते हुए हम कह सकते हैं कि यह भारतीय संस्कृति में आश्रम व्यवस्था को पूर्णता की ओर अग्रसर करने में सहायक सिद्ध होती है जिससे एक संतुलित एवं नैतिक समाज की स्थापना के साथ–साथ मनुष्य स्वयं का पूर्ण विकास कर सकें।

संदर्भ सूची–

1. पृ. 49 History of Philoosophy Eastern and Western (Government of India,1952)
2. पृ. 420, मिश्र नित्यानंद नीतिशास्त्र (सिद्धान्त तथा प्रयोग),मोतीलाल बनारसी दास
3. पृ.154 महला डॉ. नरेन्द्र सिंह, भारतीय दर्शन शब्द कोश, जैन प्रकाशन मंदिर जयपुर
4. पृ. 92 दिनकर डॉ. रामधारी सिंह, संस्कृति के चार अध्याय
5. पृ. 340–341, वर्मा वेद प्रकाश, नीति शास्त्र के मूल सिद्धान्त, ऐंलाइड पब्लिशर्स, प्राइवेट, लिमिटेड
6. 61/510, महाभारत–उद्देश्य पर्व
7. 72/34–4 महाभारत–उद्योग पर्व
8. 1/17, कौटिल्य अर्थशास्त्र
9. 2/62–63, गीता
10. 6/6, मनुस्मृति

भारतीय दर्शन एवं पुरूषार्थ व्यवस्था

ज्योति गोयल
शोधार्थी (दर्शनशास्त्र)
माधव कला एवं वाणिज्य महाविद्यालय,
उज्जैन (म.प्र.)
ई–मेल : jyotig548@gmail.com

मनुष्य एक बौद्धिक और नैतिक प्राणी है। उसके जीवन का कोई न कोई आधार निश्चित होता है। जीवन कभी निराधार नहीं हो सकता है। जब कोई दार्शनिक जीवन की गहराई में उतरता है तब एक नए जीवन–दर्शन का निर्माण होता है। जो व्यक्ति और समाज की दिशा निर्धारित करता है दूसरे शब्दों में जीवन के परिचालन में जीवनदर्शन या जीवन पद्धति काम में आती है। यह जीवन–दर्शन या जीवन मूल्य ही **'पुरुषार्थ'** है। पुरुषार्थ कोई परिकल्पना नहीं है, बल्कि एक वास्तविकता है ।यह एक समग्र जीवन–दृष्टि है।

भारतीय दर्शन में पुरुषार्थ व्यवस्था पर एक समन्वयवादी दृष्टिकोण अपनाया गया है। इसमें मनुष्य के व्यवहारिक, स्वाभाविक तथा आदर्शात्मक समस्त लक्ष्यों का समन्वय किया गया है। पुरुषार्थ का तात्पर्य मानव के लक्ष्य या उद्देश्य से है। पुरुषार्थ दो शब्दों से बना है – पुरुष तथा अर्थ। 'पुरुष' का अर्थ है विवेकशील प्राणी तथा 'अर्थ' का मतलब है लक्ष्य। इस प्रकार पुरुषार्थ का अर्थ हुआ **'विवेकशील प्राणी का लक्ष्य'**। एक विवेकशील प्राणी अर्थात् मानव का लक्ष्य होता है आत्मसाक्षात्कार करना। इसके लिए वह जिन उपायों को अपनाता है, वे ही पुरुषार्थ कहलाते हैं। वेदों में चार पुरुषर्थों को माना गया है – **'धर्म'**, **'अर्थ'**, **'काम'** और **'मोक्ष'**।

योग विशिष्ठ के अनुसार सद्जनों तथा शास्त्रों के उपदेश अनुसार चित्त का विचरण ही पुरुषार्थ कहलाता है।

पुरुषार्थ व्यवस्था तथा आश्रम व्यवस्था आपस में अन्तःनिहित है। एक के बिना दूसरे का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया जा सकता है। आश्रम व्यवस्था का महत्व बताते हुए मनु महाराज ने कहा है कि–

वर्णानां आश्रमाणां च राजा सृष्टोऽभिरक्षिता। – मनुस्मृति

अर्थात् 'कर्मणा वर्णः' और 'वयसा आश्रम' के सिद्धान्त पर समाज की वर्णाश्रम–धर्मात्मक सुव्यवस्था करना ही राजा का परम धर्म है, क्योंकि सभी पुरुषार्थ इसी के

अन्तर्गत आते है। ब्रह्मचर्य आश्रम में मनुष्य धर्म तथा अर्थ का परिचालन करने के लिए ज्ञान प्राप्त करता है और गृहस्थ आश्रम में अर्थ एवं काम पुरुषार्थ की तृप्ति के लिए साधना करता है, परन्तु धर्म से विमुख होकर नहीं। यहां धर्म का नियंत्रण अर्थ तथा काम पर आवश्यक माना गया है। इसी प्रकार वानप्रस्थ तथा सन्यास आश्रम 'मोक्ष' पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए ही बनाए गये है। वानप्रस्थ में व्यक्ति सभी सुख–सुविधाओं का त्याग कर कर्म करता हुआ मोक्ष की ओर अग्रसर होता है एवं सन्यास आश्रम में पूर्णतः त्याग, तपस्या तथा साधना के माध्यम से मोक्ष की प्राप्ति करता है। इस तरह मनुष्य आश्रम व्यवस्था में रहते हुए अपने चतुर्विध पुरुषार्थ को प्राप्त करता है।

इन चारों पुरुषार्थों को दो भागों में विभक्त किया गया है–

पहला धर्म और अर्थ।

दूसरा काम और मोक्ष। काम का अर्थ है – सांसारिक सुख तथा मोक्ष का अर्थ है, सांसारिक सुख–दुःख एवं बन्धनों से मुक्ति। इन दोनों प्रकार के पुरुषार्थों काम तथा मोक्ष के साधन है – अर्थ और धर्म। अर्थ से काम तथा धर्म से मोक्ष साधा जाता है।

इनका विवरण इस प्रकार है–

1. धर्म पुरुषार्थ

धर्म पुरुषार्थों में प्रधान पुरुषार्थ है। 'संस्कृत–शब्दार्थ कौस्तुभ' में धर्म का अर्थ इस प्रकार बनाया गया है –

"धरति लोकन् ध्रियते पुण्यात्मभिः इति वा, धृ+मन्"

अर्थात् वह कर्म जिसके करने से करने वाले व्यक्ति का इस लोक में विकास हो तथा परलोक में मोक्ष की प्राप्ति हो, वह धर्म है। धर्म के अन्तर्गत मनुष्य के उन सभी कर्तव्यों का समावेश हो जाता है जिनको करने के लिए किसी प्रकार की बाध्यता होते हुए भी, जिनको करने या न करने के लिए वह स्वतंत्र होता है। आधारशास्त्र तथा धर्मशास्त्र में पुरुषार्थ के अन्तर्गत आए 'धर्म' शब्द का यही अर्थ मान्य है। धर्म का आधार नैतिक नियम तथा सदाचार है। धर्म का सिद्धान्त एक आदर्श समाज की नींव रखता है, जिसमें मनुष्यों के कर्तव्यों और अधिकरों का पूर्ण समन्वय हो। यह नैतिक कार्यों का दर्पण हैं यह संसार में सामाजिक जीवन के कर्तव्यों का निर्धारण करता है तथा आध्यात्मिक जीवन में आनन्द की प्राप्ति का साधन बनता है। दूसरे शब्दों में धर्म प्रेय (लौकिक सुख) एवं श्रेय (पारलौकिक सुख) में समन्वय स्थापित करता है।

'यतोऽभ्युदयिनिः श्रेयससिद्धि स धर्मः।' – वैशेषिक सूत्र 1–1–2

महर्षि कणाद ने धर्म की परिभषा में कहा है कि–

"जिसके द्वारा अभ्युदय अर्थात् लौकिक कल्याण या वर्तमान जीवन काल में सुख–सुविधाओं की प्राप्ति हो तथा निःश्रेयस अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति हो, वह धर्म है।"

वैशेषिक दर्शन में 'धर्म' का तात्पर्य द्रव्यादि सप्त पदार्थों के तात्त्विक ज्ञान से है। वह तात्त्विक ज्ञान जिससे शरीर एवं आत्मा की भिन्नता का ज्ञान होता है, जिसमें आत्मा की अमरता, मुक्तता तथा आनन्दस्वरूप का दर्शन होता है – यथार्थ ज्ञान है और यह ज्ञान पदार्थों के तात्विक ज्ञान के कारण ही उत्पन्न होता है। यह ज्ञान ही निःश्रेयस अर्थात् मुक्ति का करण है। इसे ही वैशेषिक ने धर्म कहा है।

हिन्दू धर्मशास्त्रों में धर्म के दो भेद किये है – पहला सामान्य धर्म तथा दूसरा विशिष्ट धर्म। सामान्य धर्म को मानव धर्म या विश्व धर्म की संज्ञा दी गई है। यह मानव के मानवता युक्त नैतिक धर्म या नैतिकता से संबंध रखता है। यह सभी मनुष्यों पर समान रूप से लागू होता है। सामान्य रूप से मानव होने के कारण सभी मनुष्यों को सत्य का, दया का, पवित्रता, संयम, तयाग, क्षमा, अहिंसा, संतोष, सरलता, सेवा, ईश्वर–चिन्तन, पूजा, वन्दना, शील, शरणागत की रक्षा आदि का पालन करना सामान्य धर्म है। सनातन धर्म में इनका पालन आवश्यक माना गया है।

विशिष्ट धर्मों में 'स्वधर्म' भी एक धर्म है। ये धर्म व्यक्ति अपनी स्थिति के अनुसार निभाता है। जैसे परिवार, समाज व राष्ट्र के प्रति निभाया जाने वाला धर्म। इन कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों का निर्वाहन व्यक्ति के लिए आवश्यक होता है। उदाहरण के लिए वर्तमान में प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्तव्य है कि वह पर्यावरण की रक्षा करें। पर्यावरण संतुलन का हर सम्भव प्रयास वह अपनी ओर से करें। कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य को निष्ठापूर्वक अपने स्वधर्म का पालन कना चाहिए। गीता में भी कहा गया है कि–

"श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।।"

अर्थात् दूसरे का धर्म कितना भी अच्छा हो, उसकी अपेक्षा स्वधर्म ही अधिक अच्छा होता है, चाहे वह स्वधर्म विगुण (सदोष) ही क्यों न हो। अपने धर्म में निष्ठा होनी चाहिए, पर धर्म के प्रति आकर्षित नहीं होना चाहिए। धर्म पुरुषार्थ का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। धर्म, प्रधान पुरुषार्थ होने के साथ–साथ अन्य पुरुषार्थों की जन्मभूमि भी है तथा अन्य पुरुषार्थ

धर्म का संरक्षण भी प्राप्त किये हुए है। धर्म की अवधारणा इतनी व्यापक है कि वेदों में इसे 'ऋत्' भी कहा गया है। जो सृष्टि संचालन की व्यवस्था है। सारांश में यही का जा सकता है कि धर्म का सम्बन्ध मनुष्य के विश्वास, आचरण, व्यवहार, आस्तिकता, पारलौकिकता से है, जो मनुष्य के लौकिक (सामाजिक) जीवन को निर्धारित तथा नियंत्रित करता है और आत्मिक जीवन का उत्थान करता है।

2. अर्थ पुरुषार्थ

मनुष्य के जीवन में 'अर्थ' का महत्व स्वीकार किया गया है ।यहां अर्थ का मतलब है धन या सम्पत्ति। सम्पत्ति के अन्तर्गत मानव के उन सभी बाहय वस्तुओं का समावेश हो जाता है जिनका वह संग्रह करता है और जिनका उपयोग करता है। इस प्रकार अर्थ एक व्यापक अर्थ रखता है। जिसमें सभी भौतिक उपकरण और सुख के साधन आते है। गृहस्थी चलाने के लिए, जीवनयापन के लिए, समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए अर्थ की आवश्यकता होती है। कहा गया है कि **'बिना धन के धर्म नहीं होता।'** शरीर से धर्म की क्रियाएं सम्पन्न होती है, परन्तु शरीर की रक्षा के लिए अर्थ की आवश्यकता होती है।

अर्थ एक मूल्यवान वस्तु है, लेकिन इसका मूल्य परतः है अर्थात् साधन मूल्य हैं यह स्वतः मूल्यवान नहीं है किन्तु सुख का साधन होने के कारण मूल्यवान तथा वांछनीय है।

3. काम पुरुषार्थ

काम मानव की समस्त इच्छाओं का सूचक है। पुरुषार्थों में यह अपने व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसलिए काम शब्द का संकुचित अर्थ मानना भूल है काम के अन्तर्गत मानव की सभी इच्छाएं आ जाती है चाहे वे भली हो या बुरी। इस तरह काम का तात्पर्य इच्छाओं की तृप्ति से होने वाला सुख हैं। संसार में जितने भी सुख कहे गए है वे सभी काम या कामना के अन्तर्गत आते है। जिन सुखों से व्यक्ति का शारीरिक व मानसिक पतन होता है या जिनसे परिवार तथा समाज को नुकसान होता है, ऐसे सुखों को वर्जित माना गया है।

'काम' और 'अर्थ' को 'धर्म पुरुषार्थ' के नियंत्रण में रखा गया है। क्योंकि धर्म से विहीन 'काम' और अर्थ की सिद्धि दोषपूर्ण होती है या उसे सामाजिक तौर से अशुभ माना जाता है। इस सम्बन्ध में मत्स्य पुराण में कहा गया है कि–

"धर्म हीनस्य कामार्थौ बन्ध्यासुत समो ध्रवम्।" (24–28)

इसका मतलब है कि धर्म से हीन काम और अर्थ की सिद्धि करने से बुद्धि का विनाश होता है। बुद्धि उसी की स्थिर कही जा सकती है, जो अपनी इन्द्रियों को वश में रखता है। विवेक, धर्म और बुद्धि के अधीन काम की सिद्धि करने वाला ही संसार में अच्छे कार्य कर सकता है। भारतीय विचारकों ने धर्म से नियंत्रित काम या सुख की अनुशंसा की है क्योंकि इसी से समाज और परिवार गतिशील रह सकता है।

4. मोक्ष पुरुषार्थ

भारतीय दार्शनिक विचारधारा में अंतिम लक्ष्य मोक्ष है। मोक्ष का अर्थ है – **पदार्थ से मुक्ति।** इसे निःश्रेयस, परमपद या परम पुरुषार्थ भी कहते हैं। यही ब्रह्मज्ञान है और यही आत्मज्ञान भी। मोक्ष के स्वरूप के संबंध में प्रत्येक दार्शनिक सम्प्रदाय का अपना अलग विचार है जिसे प्रायः चार भागों में बांटा गया है – ज्ञान मार्ग, भक्ति मार्ग, कर्म मार्ग तथा योग मार्ग। इसी को ज्ञान योग, भक्तियोग, कर्मयोग तथा राजयोग भी कहा गया है। योग का अर्थ युक्त होने से है अर्थात् आत्मा का परमात्मा से युक्त होना या भक्त का भगवान से संयोग होना। मनुष्य अपनी प्रकृति के अनुसार किसी भी मार्ग का अनुसरण करके भगवान से युक्त हो सकता है। अर्थात् अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त कर सकता है। शंकर के अनुसार वास्तविक ज्ञान, ब्रह्म एवं आत्मा की एकता का बोध होन पर ही होता है। इस बोध को 'ब्रह्मविद ब्रह्मैव भवति' कहा गया हैं कहते हैं कि बिना ज्ञान के मुक्ति संभव नहीं है – 'ऋते ज्ञानान्त मुक्ति'। गीता में भी ज्ञान मार्ग को श्रेष्ठ माना गया है। शंकराचार्य के अनुसार मोक्ष प्राप्त करने के लिए चार बातें आवश्यक बताई गई है जिसे 'साधन चतुष्टय' कहते हैं, जो इस प्रकार है–

"आदौनित्यान्त्यि वस्तु विवेकः परिगण्यते।
इहामुत्रफलभोग विराग स्तदनन्तरम्।
शमदिषट्क सम्पत्तिर्मुमुक्षुत्वमिति स्फुटम्।।"

अर्थात् साधक में ऐसा विवेक हो जो सदअसद या नित्य और अनित्य वस्तुओं में विभेद कर सके। इस लोक और परलोक के प्रति वैरागी हो एवं साधक को शमदामादि षट् सम्पत्ति का ज्ञान हो तथा जिसमें मोक्ष प्राप्त करने की दृढ़ संकल्प शक्ति हो। ऐसा साधक मोक्ष का अधिकारी होता हैं जिसे श्रवण, मनन निधिध्यास के द्वारा पाया जा सकता हैं। दूसरा मार्ग भक्ति मार्ग है। इसमें ईश्वर से भक्ति के लिए भक्ति की जाती हैं इसमें शरणागति होती है, समर्पण होता है। इसे 'प्रपत्ति' भी कहते हैं। भगवान से एकाकार की स्थिति ही 'प्रपत्ति' है। भक्ति–साहित्य में नौ प्रकार से भक्ति प्रकट करने की विधि बताई

गयी है जिसे नवधा भक्ति कहते है। जैसे– पूजा, वन्दना, ईश्वर की दासता, सेवा, स्मरण, कीर्तन, श्रवण, सखाभाव रखना और निवेदन करना शामिल है।

मोक्ष का तीसरा मार्ग कर्म मार्ग है। कर्म में प्रवृत्ति एव निवृत्ति दो मार्ग है, जो कि अतिवादी हैं, प्रवृत्ति सकाम है और निवृत्ति मार्ग कर्मों के त्याग की बात करता है, जो संभव नहीं है तो मोक्ष कैसे संभव हुआ, इसके उत्तर में गीता ने इन दोनों के बीच का मार्ग बताया है, जिसे **'निष्काम कर्म'** कहते हैं। अर्थात् कर्म निष्काम भाव से आसक्ति रहित होकर करना चाहिए। अनासक्त भाव से कर्म करना ही मोक्षदायक है। निष्काम भाव से सब कुछ ईश्वर को समर्पित कर देना ही गीता का **'समर्पण योग'** है। यही मुक्तावस्था है। कर्ममार्ग के इसी निष्काम कर्म योग को मोक्ष का मार्ग बताया गया है।

चौथा मार्ग 'योग मार्ग' है। ईश्वर तथा जीव या आत्मा तथा परमत्मा के एक हो जाने या संयुक्त हो जाने की अवस्था योग है। महर्षि पतंजलि ने ईश्वर प्राप्ति के लिए आठ योग बताए है जिन्हें 'अष्टांग योग' कहते है। इसी तरह बौद्धमत में 'निर्वाण' यानी मोक्ष प्राप्ति के लिए चार आर्य सत्यों का सहारा लिया है तथा जैनों ने मोक्ष या केवल्य को पाने के लिए 'अनन्त चतुष्टय' का उल्लेख किया है। 'मोक्ष–पुरुषार्थ' एक आदर्श के रूप में जीवन की सार्थकता है। ये प्राप्त और प्राप्ति के बीच एक गति है। प्राप्य के लिए हमारा सारा प्रयास सदाचार और सद्विचार का ही प्रसार करता है। व्यक्ति पहले प्राप्त करके ही वितरण करता है। मुक्त व्यक्ति ही दूसरों को मार्ग प्रदर्शित करता है। सारांश मे यही का जा सकता है कि मोक्ष की अवधारणा या एक ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता समाज में आज भी प्रासंगिक है जो योगी, ज्ञानी, संत व स्थितप्रज्ञ की तरह हो।

अंत में यही का जा सकता है कि पुरुषार्थ की अवधारणा भौतिक और आध्यात्मिक जगत के बीच संतुलन स्थापित करती है। पुरुषार्थ के माध्यम से ही मनुष्य के जीवन का सर्वांगीण विकास हो पाता हैं पुरुषार्थ का सिद्धान्त भारतीय धर्म एवं दर्शन की आत्मा है।

संदर्भ सूची

1. श्री योग वशिष्ठ – महारामायण, प्रकाशन – 2pdf
2. पुरुषार्थ ;च्नतनदबपचंस वइरमबजे वभ्निउंद स्पमिद्ध – डॉ. भगवानदास
3. नीतिशास्त्र के प्रमुख सिद्धान्त : (भारतीय एवं पाश्चात्य) – डॉ. ह्रदयनारायण मिश्र
4. पदार्थ विज्ञान (सरल अध्ययन) – डॉ. हीरालाल आर. शिवहरे
5. भारतीय दर्शन – डॉ. ह्रदयनारायण मिश्र
6. माधवाचार्यकृत 'सर्वदर्शन संग्रह' सपरिशिष्ट 'प्रकाश' – हिन्दी भाष्योपंत, प्रो. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि'

पुरूषार्थ व्यवस्था के समसामयिक अर्थ सन्दर्भ

डॉ. सत्यनारायण देवलिया
जनरल फैलो (आई.सी.पी.आर.)
दर्शन शास्त्र विभाग
डॉ.हरिसिंह गौर वि. वि. सागर (म.प्र.)
ई–मेल:–dr.sndevliya7@gmail.com

आज का युग विज्ञान का युग है। विज्ञान के चमत्कार के फलस्वरूप आज मनुष्य ने अपनी सुख सुविधा, स्वास्थ्य व लौकिक कल्याण के कई अत्याधुनिक साधन विकसित कर लिये है। यह मनुष्य की बौद्धिकता व संकल्प शक्ति का ही परिणाम है। विज्ञान की इस चरम प्रगति के युग में भी आज हम कई समस्याओं व संकटों से ग्रसित व भयभीत हैं। जिनमें प्रमुख हैं मनुष्य का चारित्रिक पतन जिससे भ्रष्टाचार, हिंसा, यौन उत्पीड़न, चोरी आदि की घटनाऐं साथ ही पर्यावरण असंतुलन से उत्पन्न समस्यायें, आतंकवाद, गरीबी, बेरोजगारी, आदि आदि समस्यायें व संकट।

मनुष्य ने अपनी बौद्धिकता से जहाँ आज इतना भौतिक विकास किया है, वहीं ये समस्याऐं भी अपना विकराल रूप लेती जा रहीं हैं. ऐसा क्यों हो रहा है? इस पर भी हमें विचार करना चाहिए। चूँकि हम विज्ञान के युग में जी रहे हैं अतः हम तार्किक दृष्टि से कही बात को ही उचित समझेंगे व स्वीकार करेंगे। या दूसरे शब्दों में कहें तो यदि हमें अपनी ज्ञान परम्परा का कोई प्राचीन सिद्धान्त ऐसा लगता है कि जिसमें मानव का सर्वांगीण कल्याण निहित है व वर्तमान उत्पन्न समस्याओं व संकटों का निदान भी उसमें निहित है, और जिसे आज पूरी तरह अपनाया नहीं जा रहा हो तो हमें उस सिद्धान्त को पुर्नस्थापित करने के लिए लोगों को उसके प्रति सचेत करने के लिए आज के परिप्रेक्ष्य में उसकी वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत करनी पड़ेगी। भारतीय दर्शन में मानवीय कल्याण की एक बहुत प्राचीन अवधारणा है, पुरूषार्थ व्यवस्था की अवधारणा । यहाँ पर हम पुरूषार्थ व्यवस्था के समसामयिक अर्थ सन्दर्भ जानने का प्रयास करेंगे।

भारतीय दर्शन के साथ–साथ विज्ञान की भी यह मान्यता है कि संसार में कोई भी वस्तु अकारण नहीं होती और संसार में कोई भी वस्तु निष्प्रयोजन भी नहीं होती है। यदि इस सिध्दांत को स्वीकार किया जाए तो हमें यह मानना पढ़ेगा कि मनुष्य का जन्म भी अकारण नहीं है और मनुष्य का जन्म निरूदेश्य भी नहीं है। भारतीय तत्ववेत्ताओं ने जीवन के अस्थायित्व को ध्यान में रखते हुए मानव होने के प्रयोजन या उद्देश्य पर भी विचार किया। किस वस्तु की प्राप्ति में मनुष्य को अपनी शक्ति व्यय करना चाहिए। या इस संसार

में मनुष्य आया है तो उसे क्या करना चाहिए। इन्हीं प्रशनों के परिप्रेक्ष्य में एवं मानव की मूलभूत आकांक्षाओं को ध्यान में रखते हुए पुरूषार्थ व्यवस्था की अवधारणा विकसित हुई। पुरूषार्थ शब्द दो शब्दों के मेल से बना हैः पुरूषअर्थ। यहाँ पुरुष शब्द मानव के अर्थ में है (हालाँकि पुरूष शब्द की अन्य व्याख्याऐं भी हमें भारतीय ज्ञान परम्परा में देखने को मिलती है) तथा अर्थ का मतलब है प्रयोजन या उद्देश्य । अतः पुरूषार्थ से तात्पर्य पुरूष होने का अर्थ या प्रयोजन या पुरूष होने की सार्थकता।

अतः पुरूषार्थ में पुरूष शब्द का अर्थ मानव मात्र है और अर्थ शब्द से तात्पर्य केवल उन्हीं वस्तुओं से नहीं जिन्हें मनुष्य उद्देश्य बनाकर प्राप्त करना चाहता है अपितु उन उद्देश्यों से भी है जिन्हें मनुष्य को प्राप्त करना चाहिए। इस प्रकार पुरूषार्थ व्यवस्था में मानव के केवल यथार्थ लक्ष्य का ही नहीं अपितु आदर्श लक्ष्य का भी समावेश होता है। पर यह आदर्श लक्ष्य भी मानवीय प्रयत्न के द्वारा प्राप्तव्य होता है। मानव ही पुरूषार्थ में समर्थ होता है क्योंकि केवल उसी में बौद्धिकता, संकल्प स्वातंत्य एवम् उत्तरदायित्व की भावना रहती है।

जीवन की संपूर्णता के लिए भारतीय दर्शन में चार प्रकार के पुरूषार्थो की अवधारणा निहित है,जो कि हम में से ज्यादातर लोग जानते है वे हैः–

धर्म (नैतिक मूल्य)

अर्थ (आर्थिक मूल्य)

काम (मानसिक मूल्य)

मोक्ष (आध्यात्मिक मूल्य)

यह पुरूषार्थ व्यवस्था है। पुरुष अपने अर्थ को तभी प्राप्त कर सकता है जव वह व्यवस्था से चले। पुरूषार्थ व्यवस्था में चलने वाला व्यक्ति स्वयं तो चरम लक्ष्य मोक्ष तक पहुँचता है साथ ही समाज के लिए भी कल्याणकारी सिद्ध होता है। पुरूषार्थ की प्राप्ति के लिए ही इसी तारतम्य में आश्रम व्यवस्था व वर्ण व्यवस्था का सिध्दांत दिया गया हैं।

अब हम चारों पुरूषार्थो को क्रमानुसार संक्षेप में उनके महत्व की दृष्टि से जानने का प्रयास करेंगे।

धर्मः– धर्म उन नियमों को कहते है जिनके पालन से व्यक्ति और समाज दोनों ही उन्नति और कल्याण होता है। जिन पर चलने से व्यक्ति को सुख, शांति, और समाज में संतुलन, सामन्जस्य और शांति स्थापित होती है। धर्म पुरूषार्थ व्यवस्था में पहला पुरूषार्थ है। यह

अन्य पुरूषार्थो का साधन भी है और आधार भी। यदि हमारा आधार ही मजबूत नहीं होगा तो अन्य पुरूषार्थ डगमगा जायेंगे। इसीलिए पुरूषार्थ रूपी इमारत में धर्म रूपी आधार पक्का होना चाहिए। यहॉ हम धर्म को शाब्दिक अर्थ की दृष्टि से जानने का प्रयास करें जैसा विदित है धर्म धृ धातु से बना है। धृ का अर्थ है धारण करना। यहॉ व्युत्पत्तिमूलक अर्थ की अलग–अलग व्याख्या हमें देखने को मिलती है जैसे:[1]. ध्रियते लोकः अनेन इति धर्म अर्थात् धर्म वह है जिससे लोक धारण किया जाए।[2]. धरति धारयति वा लोकम् इति धर्म. अर्थात् धर्म वह है जो लोक को धारण करें।[3]. ध्रियते यः सः धर्मः अर्थात् जो दूसरों के द्वारा धारण किया जाए।

महाभारत में इसी को और स्पष्ट करते हुए कहा गया है धारणाद धर्मभित्याहुर्धर्यो धारयते प्रजाः। यत् स्याद् धारण संयुक्तं सः धर्म इति निश्चयः।। अर्थात् धर्म प्रजा को धारण करता है और जो धारण के साथ रहे वही धर्म है। हम यहॉ एक सामान्य अर्थ धर्म का धारण करने के अर्थ में यह ले कि जो धारण करने योग्य है वही धर्म है। ऐसे धर्म के आदर्श स्वरूप का निर्देश करते हुए मनु ने धर्म के दस लक्षण बतलाए हैं जो हैः धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय निग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध। वास्तव में ये धारण करने योग्य मानवीय विशेष सद्गुण ही है। अन्य सनातन परम्परा के धर्म ग्रन्थों में धर्म के पालन के अर्थ में सदाचार का कर्तव्य पालन की ओर ही निर्देश किया गया है। यहॉ तक कि भारतीय दर्शन के नास्तिक सम्प्रदाय के दर्शनों में भी बौद्ध दर्शन एवं जैन दर्शन में धर्म का पालन सदाचार का ही पालन है।

हम साम्प्रदायिक तौर पर किसी भी धर्म के अनुयायी हों पर सदाचार रूपी सामान्य सद्गुण सभी धर्मो में मान्य है। भले ही हम नास्तिक हों किसी धार्मिक सम्प्रदाय के अनुयायी न हों फिर भी हमें सुव्यवस्था के लिए सदाचार के मूल्य तो मानना ही पड़ेगे। हमें चरित्रवान बनना पड़ेगा। धर्म हमें चरित्रवान ही बनाता है। अच्छे आचरण वाला बनाता है। क्योंकि जैसा हमारा चरित्र होता है वैसा ही आचरण होता है। नीतिशास्त्र की दृष्टि से यदि हम चरित्र को जाने तो चरित्र का अर्थ होता है संकल्प (इच्छा) का अभ्यास। अच्छे या बुरे चरित्र का अर्थ हुआ, जो अभ्यासपूर्वक अच्छा या बुरा अर्थात् अनुचित संकल्प करे।[4]

चरित्र स्वभाव से भिन्न हैः क्योंकि स्वभाव प्राकृतिक है। पर चरित्र अर्जित होता है। चरित्र मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छा शक्ति का कार्य परिणाम है। हम अपने चरित्र का स्वयं निमार्ण करते है। अच्छे संकल्प का अभ्यास डालकर अच्छा चरित्र और बुरे संकल्प के

अभ्यास से बुरा चरित्र बन जाता है। इस प्रकार मनुष्य के चरित्र में विकास संभव है।[5] धर्म के लिए विवेक और अभ्यास दोनों आवश्यक है। मात्र विवेक से उचित अनुचित जान लेना ही पर्याप्त नहीं है। बल्कि उचित–अनुचित का विवेक हो जाने पर अनुचित से दूर रहने व उचित अर्थात् जो नैतिक सद्‌गुण है उनका बार–बार आचरण आवश्यक है: तभी हम धर्मयुक्त कहलायेंगे। यदि हम धर्मयुक्त नहीं हैं तो हममें और पशु में कोई भेद नहीं है।

अतः धर्म पुरूषार्थ का सेवन करते हुए हम चरित्रवान व आचरणवान बनते है जिससे समाज में हम आदर के पात्र तो बनते ही हैं समाज में हम कई बुराइयों को भी नहीं पनपने देते। धर्म मात्र सद्‌गुण का आचरण ही नहीं है बल्कि कर्तव्य रूप धर्म के कई प्रकार भी जैसे सामान्य धर्म, विशेष धर्म, आपद्धर्म, शरीर से सम्बन्धित धर्म आदि।

धर्म सभी सुखों का मूल भी है। जैसा कि मनु महाराज का भी कथन है– देहधारियो के सभी दुःखों की उत्पत्ति अधर्म से तथा अक्षय सुख की प्राप्ति धर्म से होती है।[6] वास्तव मे धर्म से हमें लौकिक अभ्युदय व निःश्रेयस दोनों की प्राप्ति होती है। वैशेषिक सूत्र में भी कहा है यतोभ्युदयनिःश्रेयस सिद्धि स धर्मः।[7] अतः धर्म के द्वारा हम आनन्द की प्राप्ति की ओर ही कदम बड़ाते हैं। पुरूषार्थ व्यवस्था अपनाने में आज व्यक्ति अर्थ और काम के प्रति तो सचेत है पर आधारभूत पुरूषार्थ धर्म से विमुख होता जा रहा है और यही वजह वर्तमान में उत्पन्न सभी समस्याओं व संकटों की भी है।

अतः सर्वप्रथम मानव को धर्म में पारंगत होना चाहिए तभी वह अर्थ और काम के सेवन का सही ढंग से अधिकारी है।

अर्थः– अर्थ का अर्थ है सम्पत्ति और सांसारिक विषयों और वस्तुओं को प्राप्त करने के सभी साधन।[8]

हमें अन्य पुरूषार्थो धर्म और काम की पूर्ति के लिए अर्थ की अति आवश्यकता होती है। अतः उन पुरूषार्थो के द्वारा जो हमें सुख और आनन्द मिलता है उसमें अर्थ भी सहायक है। अर्थ पुरूषार्थ में मानवीय जीवन के विभिन्न पक्ष जुड़े हुए है। पर अर्थ को आदर्श रूप में पुरूषार्थ होने के लिए इसके अर्जन के साधन, इसके संग्रह की मात्रा तथा इसके भोग की प्रकिया पर अंकुश लगाया गया है। अर्थ का अर्जन उन्हीं साधनों से किया जाना चाहिए जो न्यायोचित तथा शास्त्र सम्मत हों।[9] इसीलिए त्यागपूर्वक भोग करने का निर्देश उपनिषदों व अन्य ग्रन्थों में किया गया है। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में भी यही बात पुष्ट की है और बतलाया है "अर्थ धर्मानुसार होने पर धन सुख की पूर्णता का मार्ग दिखाता है तथा जो सद्‌गुण के विपरीत हो उसका नाश करता है"।[10]

आज जो रिश्वतखोरी, भ्रष्टाचार, अतिसम्पत्ति संग्रह आदि समस्याऐं है वे अर्थ पुरूषार्थ को सही ढंग से नहीं अपनाने के कारण है।

कामः– मानव के जीवन में काम समस्त क्रियाओं का आधार है। संकुचित अर्थ में काम इन्द्रिय और विषय के सम्बन्ध से उत्पन्न सुख विशेष रूप से यौन सुख का ध्योतक है। किन्तु अपने व्यापक अर्थ में काम समस्त इच्छा, आकांक्षा, कामना, अभिलाषा तथा इनकी संतुष्टि से होने वाले सुख के लिए प्रयुक्त होता है। सीमित अर्थ में भी हम ग्रहस्थाश्रम में रहकर वैवाहिक जीवन का आनन्द लेते हुए काम का भोग करते है, जो कि हमारी नैसर्गिक जरूरत भी है। पर काम का सेवन धर्मानुकूल होना चाहिए। जब हम काम को आदर्शात्मक पुरूषार्थ के रूप में देखें तो इस अर्थ में काम सभ्यता, संस्कृति, ज्ञान, विज्ञान को जन्म देकर सुख के अनेक अदृभुत साधनों को उपलब्ध कराने में सहायक होता है। आज जो हम प्रगति के चरम पर है यह हमारे काम का ही परिणाम है। वहीं दूसरी ओर काम विविध कलाओं, काव्यों, ललित साहित्यों एवम् सौन्दर्यशास्त्र को विकसित कर मानव जीवन को दिव्य आनंद प्रदान करता है।[11]

वर्तमान परिदृश्य में हमारा काम चाहे सीमित अर्थ मे हो या व्यापक अर्थ में हो हमें अपनी आर्थिक स्थिति व धर्मानुकूलता के अनुसार ही काम का सेवन करना चाहिए। ऐसा न होने पर हमारा काम अनियंत्रित होकर यौन उत्पीड़न, हिंसा एवं और भी अन्यअनैतिक कृत्यों में परिणत होता है।

गीता में इसीलिए भगवान श्रीकृष्ण ने धर्म के अविरूद्ध काम को स्वीकार किया है।

मोक्षः– चौथा पुरूषार्थ मोक्ष है। वैसे देखा जाए तो पुरूषार्थ एक ही है मोक्ष की प्राप्ति। शेष पुरूषार्थ इसी में समाहित है या इसकी प्राप्ति के सोपान है। मोक्ष मनुष्य का चरम लक्ष्य है। क्योंकि इस अवस्था में दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है। लौकिक सुख भी क्षणिक होते है। भारतीय मनीषी किसी ऐसे सुख की तलाश में थे जो स्थायी हो। ऐसे परम सुख की कल्पना मोक्षावस्था में की गई है। हालांकि तत्त्वमीमांसीय भेद के कारण मोक्ष के स्वरूप के विषय में सभी भारतीय दर्शनों में मतैक्य नहीं है। फिर भी दुःखाभाव इस अवस्था में सभी दर्शनों में मान्य है। मोक्ष की अवधारणा में दो मान्यताऐं भारतीय विचारधारा में पायी जाती है– एक जीवनमुक्ति की अर्थात् इसी जीवन में मोक्ष का साक्षात्कार एवम् दूसरी विदेह मुक्ति की अर्थात् मृत्यु के पश्चात् मोक्ष। समसामयिक परिप्रेक्ष्य में जीवन मुक्ति की अवस्था मानव व्यवहार के लिए आदर्श मानी जा सकती है। व्यक्ति अपने लक्ष्य की पूर्णता का साक्षात्कार इसी जीवन में कर लेता है, अतः मनुष्य को यह प्रेरणा देने वाला

सिध्दांत है। कोई भी सामान्य व्यक्ति मृत्यु प्राप्त करना नहीं चाहता है, वह ज्ञान अवश्य प्राप्त करना चाहता है। इन दोनों की तार्किक परिणति जीवनमुक्ति है। यह सिद्धन्त एक वैज्ञानिक को भी संतुष्ट कर सकता है। जीवनमुक्ति का आदर्श जिसमें व्यक्तित्व की पूर्णता हो वह नियंत्रित रूप से कार्य करे, सभी राग देष से परे हों ऐसा जीवनमुक्त केवल समाज के हित में कार्य करता है।

इस प्रकार हम देखते है कि पुरूषार्थ व्यवस्था में व्यक्तित्व की पूर्णता निहित है। आज धर्म और मोक्ष पुरूषार्थ के प्रति ज्यादातर मनुष्य प्रयास नहीं करते इसीलिए हमें समाज में अनियंत्रित काम और अर्थ का दुष्परिणाम देखने को मिलता है। जबकि शास्त्रों मे धर्म, अर्थ और काम का समान रूप से सेवन करने को कहा है। अर्थ और काम का नियामक धर्म है। और ऐसे धर्म से भी बचने को शास्त्रों में कहा है जो लोकरीत के विरूध्द हो। धर्म का आचरण करते हुए, धर्मानुकूल अर्थ और काम का सेवन करते हुए हम चरम लक्ष्य मोक्ष तक पहुँच सकते है। और यहाँ तक पहुँचना ही मानव होने का अर्थ या उद्देश्य है।

सन्दर्भ सूची –

1. डॉ. भीखनलाल आश्रेयः भारतीय नीतिशास्त्र का इतिहास,हिन्दी समिति,सूचना विभाग,उ.प्र. लखनऊ पृष्ठ–619
2. महाभारत : शान्ति पर्व : अध्याय 109–11
3. मनुस्मृति : अध्याय 6 श्लोक 66
4. अशोक वर्मा : नीति शास्त्र की रूपरेखा, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली.1954, पृष्ठ 49
5. अशोक वर्मा : नीति शास्त्र की रूपरेखा,
6. वही – वही
7. मनुस्मृति : अध्याय 6, श्लोक 64
8. वैशेषिक दर्शन : अध्याय,1–1–2
9. क्र–1 के अनुरूप
10. प्रो. गीतारानी अग्रवाल का लेख : पुरूषार्थ की यथार्थवादी एवं आदर्शवादी व्याख्या, दार्शनिकी वर्ष 1, अंक 1,पृष्ठ 47
11. उदधृतः डॉ. सुधा भटनागरः पुरुषार्थ चतुष्टयः दार्शनिक अनुशीलन विद्या निधि प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1999, पृष्ठ 110
12. क्र. 9 के अनुरूप ।

अनुशासन : एक दार्शनिक विश्लेषण

प्रो0 ए. पी. दुबे
विभागाध्यक्ष, दर्शन–विभाग,
पूर्व प्राक्टर,
डॉ0 हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर (म.प्र.)

यदि हम दर्शन की दृष्टि से विचार करें तो अनुशासन एक नैतिक मूल्य है जो मानव के सामाजिक, व्यक्तिगत, आध्यात्मिक पक्ष से सम्बन्ध रखता है। जिस प्रकार कर्म सिद्धान्त ऋत् से संबंधित है वैसे ही अनुशासन को मानव जीवन में प्रकृति के अनुशासन के आदर्श उदाहरण को सामने रखकर धारित किया गया है। भारतीय सन्दर्भ में देखा जावे तो आश्रम व्यवस्थाओं विशेषकर ब्रह्मचर्य में अनुशासन का महत्त्व है। महाभारत का अनुशासन पर्व और बौद्धों का पंचशील अनुशासन से सम्बन्धित है। योग का तो प्रारम्भ ही **'अथ योगानुशासनम्'** से होता है, जो मोक्ष के लिए आवश्यक है। स्वामी विवेकानन्द की वाणी हो अथवा गांधीजी का स्वराज्य सभी अनुशासन की महत्ता को स्वीकार करते हैं। वैसे तो अनुशासन प्रत्येक आयु वर्ग के व्यक्ति के जीवन के लिए आवश्यक है किन्तु यहाँ हमारा अभिधेय युवा वर्ग में वर्तमान परिस्थितियों में अनुशासन को लेकर है। योग में अनुशासन को शिष्ट का शासन निरूपित किया गया है।[1] पतंजलि के अष्टांग योग – यम और नियम, से प्रारम्भ होते हैं जिसके लिए मानसिक संयम और अनुशासन आवश्यक है। उन्हीं के बाद आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार नामक तीसरे, चौथे और पाँचवें चरण आते हैं। चित्त, असम्प्रज्ञात समाधि आदि अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान हमें अनुशासन द्वारा सिद्ध होता है। अनुशासन प्रारम्भ में बलपूर्वक ही करना पड़ता है क्योंकि यह स्वेच्छित नहीं है किन्तु बाद में सहज हो जाता है।

यद्यपि भयवश स्वीकार किया गया अनुशासन अस्थायी होता है, क्योंकि वह भय समाप्त होते ही नष्ट हो जाता है।[2] इसका प्रमाण आपातकाल की शासन व्यवस्था है। स्थायी अनुशासन तो वह है जो भीतर से उत्पन्न होता है। अनुशासन प्रारम्भ में तो कठोर लगता है किन्तु उसका फल महान् बनाने वाला है। अनुशासन की विडम्बना यह है कि हम स्वयं अनुशासित रहना नहीं चाहते किन्तु दूसरों से अपेक्षा करते हैं कि वे अनुशासित रहें।[3] प्राचीन काल में गुरूकुल में ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए ऋषियों, गुरुओं द्वारा शिष्यों की शिक्षा–दीक्षा होती थी जिसमें पूर्ण अनुशासित जिम्मेदार नागरिक तैयार होते थे। इस प्रसंग में विश्वामित्र का उदाहरण देना समीचीन होगा। विश्वामित्र दशरथ से आग्रह कर राम को

साथ ले जाते हैं और कहते हैं 'दशरथ तुम मुझे राम दे दो। मैं तुम्हारा आर्यावर्त बचा लूँगा' यह वाक्य ऋषि की मंत्र ऋचा बन जाता है।[4] आश्चर्यचकित दशरथ जब इस बात को समझ नहीं पाते। तब वे अपना मन्तव्य प्रकट करते हुए कहते हैं –'तरुणाई में प्रवेश करने वाले चारों राजकुमारों को शस्त्रों, शास्त्रों की अनुशासित दीक्षा दूँगा। उन्हें आत्मबल व बाहुबल की चेतना दूँगा ताकि वे आसन्न विपदा, दक्षिण से आ रही रक्ष संस्कृति का अपने विवेक और पराक्रम से सामना कर सकें। यह दीक्षा अनुशासन से ही सम्भव है और इस प्रकार गुरूकुल परम्परा एक जिम्मेदार नागरिक और आदर्श शासक तैयार करता था। यह विलक्षण निष्पत्ति है, इस प्रसंग की, कि तपोवन का ऋषि उसमें इतना सामर्थ्य और विवेक क्षमता थी कि वह 'शास्त्रों के साथ 'शस्त्रों का प्रशिक्षण देकर आने वाली पीढ़ी को पारंगत कर सकता है। यही हमारी सांस्कृतिक परम्परा है। उसमें व्यवधान या व्यतिक्रम (अनुशासनहीनता) विघटन का कारण बनता है।[5] मोटे तौर पर मानव जीवन को तीन कालों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम–बाल्यकाल या अर्जन और प्रशिक्षण काल, द्वितीय–यौवन या उपभोग अथवा संग्रहकाल, तृतीय–साधना और साक्षात्कार काल।[6] प्रथम बाल्यकाल जहाँ स्नेह और सहयोग पर आधारित है वहीं द्वितीयकाल साहस और सहकार पर आधारित है। यही से अनुशासन का संचार और अर्जन होता है जो तीसरे काल तक चलता है। अनुशासन का यह संग्रहण मनुष्य विशेष्तः विद्यार्थियों के लिए मनोवांछित सफलता की कुंजी है।

वर्तमान में यह दृष्टिगोचर है कि विद्यार्थी व युवा अपने जीवन के आधारभूत सिद्धान्त अनुशासन से दूर होते जा रहे हैं जिससे अपसंस्कृति का वातावरण निर्मित हो गया है। इसका एक बड़ा कारण संचार माध्यम हैं, विशेषतः इलेक्ट्रानिक मीडिया अधिक उत्तरदायी है जिसने हमारे मूल्य, मर्यादा और नैतिकता के प्रतिमानों को ध्वस्त कर दिया है। स्वतन्त्रता का बोध पूरी तरह विकसित नहीं हो पाया और हमारी पीढ़ी उत्तरोत्तर स्वच्छन्द होती चली गई।[7] सिनेमा, विज्ञापन, चमकदार माडलिंग, नशीली दवाओं के बाजार आदि ने नवजवानों के समक्ष एक नया संसार खोल दिया। यह समस्या केवल भारत की नहीं अपितु कमोवेश सम्पूर्ण विश्व इससे प्रभावित है। कुछ स्वार्थी तत्त्व इस कार्य को प्रोत्साहित कर रहे हैं और रातों–रात धन व यश अर्जित करने की दौड़ में, 'शार्टकट' संस्कृति में शामिल हो गए हैं। इस समस्या के अनेक कारण हैं, कतिपय महत्त्वपूर्ण कारणों पर चर्चा हम यहाँ करना चाहेंगे। इन कारणों में शिक्षा की अहम् भूमिका परिलक्षित होती है।

हमारी शिक्षा व्यवस्था में शिक्षा के उद्‌देश्यों में ज्ञानात्मक, भावात्मक और क्रियात्मक पक्ष की बात है किन्तु यह सिद्धान्त रूप ही है, उसका व्यवहारिक क्रियान्वयन दिखाई नहीं देता। व्यवहार में तो मात्र ज्ञानात्मक पक्ष और उसमें भी मात्र भौतिक विषयों संबंधी तथ्यों की सूचना मात्र को महत्त्व देकर योजनाकार एवं अध्यापक वर्ग अपने कर्त्तव्यों की इतिश्री कर लेते हैं।[8] वस्तुतः ज्ञानात्मक, भावात्मक और क्रियात्मक पक्ष के विकास का न तो सम्यक् स्वरूप ही नीति एवं योजनाकारों को स्पष्ट है और न ही उनकी प्राप्ति या विकास के तरीकों का ज्ञान। ऐसा इसलिए क्योंकि वे स्वयं इसी दोषपूर्ण शिक्षा पद्धति के उत्पाद हैं। इस कारण से शिक्षा अपने मूल मंतव्य से भटकी है और युवा भी दिग्भ्रमित है, नैतिक सदाचरण व अनुशासन से भटके है। यह वह बिन्दु था जिस पर युवा विद्यार्थी अपने मनोमस्तिष्क में गुरू के आदर्शों को सहेजकर रखता था, उसके परिवार और समाज ने भी गुरू का आदर्श युवा मन में चित्रित किया था। इस आदर्श को लेकर जब किशोर–किशोरी उच्च शिक्षा की संस्थाओं में प्रवेश करते हैं तब हताशा ही उनके हाथ लगती है। जिन गुरुओं से शिक्षा और संस्कारों की दीक्षा लेने के मंतव्य से विद्यार्थी गया (जैसा गुरूकुल प्रणाली मे) था। वे ही गुरू उसे बौने दिखलाई देते हैं, उसकी सभी कल्पनाएँ ध्वस्त होती दिखती हैं। वह टूटता, बिखरता, आत्मविश्वासहीन हो जाता है।[9] युवा पीढ़ी का आत्मविश्वास जब खण्डित हो जाता है तब उसे सब कुछ बेमानी प्रतीत होती है और वह उच्छृंखल हो जाता है। इस खण्डित विश्वास के कारण आगामी निर्माण भी डगमगा जाता है। शिक्षकों के प्रति उपेक्षा के इस भाव का सम्भवतः यह कारण है कि उनमें छात्रों को परिमार्जित करके संस्कारित करने की उच्चाशयी कल्पना के स्थान पर गर्हित स्वार्थ भावना ने स्थान लिया जिसका सर्वाधिक प्रभाव शिक्षण संस्थाओं पर पड़ा, जहाँ शिक्षक अपनी शिक्षकीय गरिमा को त्याग, निम्न स्वार्थों के लिए युवा पीढ़ी का दुरुपयोग करने लगे। गुरू–शिष्य परम्परा का विखण्डन और अविश्वास अनुशासनहीनता का एक कारण है तो दूसरी ओर देश के कर्णधारों का समाज में भष्टाचार व विधानसभाओं और लोकसभाओं में अमर्यादित आचरण सत्ता की खरीद–फरोख्त और उसके बावजूद दबदबा और सम्मान बरकरार रखना युवाओं के समक्ष कौन–सा सन्देश देता है। यह प्रश्न हम सभी के सामने है कि युवा पीढ़ी को आजादी के बाद राष्ट्रीय चरित्र, मूल्यसत्ता एवं नैतिक शिक्षा की कोई सतत् विरासत पुरानी पीढ़ी द्वारा नहीं सौंपी गई। शिक्षा व्यवस्था में ही शनैःशनैः नैतिक शिक्षा का महत्त्व घटता गया। अतः क्रमशः एक स्वच्छन्द, अनुशासनविहीन, पाश्चात्य

मानसिकता की गुलामी ग्रस्त पीढ़ी राष्ट्रीय जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में छाने लगी। अपवादस्वरूप कुछ ऐसे उदाहरण भी हैं जिन्होंने समय की पीठ पर अलग और नई इबारत लिखी है। एक और प्रमुख बात यह है कि हमारी आधारभूत शिक्षा प्रारम्भ से नैतिकता से जुड़ी थी जिसका सीधा सम्बन्ध अध्यात्म से है। आज **सेक्यूलरिज्म** के चलते धार्मिक शिक्षाओं का अध्ययन समाप्त प्राय है। क्या यह त्रासदी नहीं कि वेदान्त की भूमि में हमारे स्कूलों से उपनिषदों और भगवद्गीता का अध्ययन निषिद्ध सा है।[10] भारतीय समाज का सबसे बड़ा मूल्य पोशाक और अनुशासन सौहार्द्र का पाठ पढ़ाने वाले संयुक्त परिवार टूट रहे हैं। यह सभी भारतीय (हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई) बुद्धिजीवियों के विचार का विषय होना चाहिए।

अतः आवश्यक है कि उपरोक्त तथ्यों के आधार पर शिक्षा को देश की आवश्यकता के अनुरूप ढाले, उसे वैयक्तिक, सामाजिक विकास का आधार बनावें जो नैतिकता का समावेश लिए हों। शान्ति निकेतन की तरह गुरूकुल परम्परा का पुनराविष्कार हम नहीं कर पाये हैं। इस पर पुनर्विचार करना आवश्यक है। यह भी आवश्यक है कि हम अपनी शिक्षा प्रणाली में धर्म के अनावश्यक परहेज को त्यागें ताकि विद्यार्थी अपनी सभ्यता के उदात्त और महान् पक्षों का आदर्श अपने चरित्र में शामिल करें। धार्मिक विरासत को समझे बिना अनुशासन जैसे मूल्य प्राप्त नहीं हो सकते। यद्यपि धर्म भी प्रचलित तौर पर स्वार्थ का ही पाठ पढ़ाता है। उदाहरणार्थ, अपना पुण्य, अपना मोक्ष आदि। जब तक यह दृष्टिकोण न बदला गया और सामाजिक चेतना को सर्वोपरि स्थान न दिया गया तब तक अनुशासन हमारे लिए अरण्य रोदन ही सिद्ध होगा। संयुक्त परिवार मूल्यों की पाशाक संस्था जो अनुशासन और संस्कारों की प्राकृतिक नर्सरी है। इस संस्था को पुनः सक्रिय करना हमारी प्राथमिक आवश्यकता है।

भारत आज बड़े संक्रमण की दहलीज पर है। विश्व में तीव्र गति से हो रहे चकाचौंध पूर्ण परिवर्तन के साथ यदि युवा पीढ़ी कदमताल नहीं करती तो पिछड़ने का भय है। हम में से जो इस ओर समग्रता से नहीं सोच रहे हैं वे तीव्र गति से हो रहे परिवर्तनों को आत्मसात् कर साथ नहीं चल पा रहे हैं। परिवर्तन और विकास प्रकृति का लक्षण है। परिबर्तन होना अच्छा है और सम्भवतः कोई भी परिवर्तन के विरुद्ध नहीं है। किन्तु प्रश्न यह है कि कितना परिवर्तन स्वीकार किया जावे। परिवर्तन कब? और इन सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है कि हमें परिवर्तन की आवश्यकता क्यों है? ये वे प्रश्न हैं जिन्हें युवा पीढ़ी को

आधुनिकता ने अंधानुकरण के पूर्व अवश्य ध्यान में रखना चाहिए। क्योंकि हर चमकती हुई वस्तु सोना नहीं होती और कई बार तो न चमकने वाली वस्तु भी सोने से अधिक मूल्यवान् होती है। गलाकाट प्रतिस्पर्धा के इस युग में आधुनिकता और उसके साधन आवश्यक होते हुए भी ध्येय प्राप्ति में युवाओं के लिए बाधक भी है। स्वानुशासन से ही विद्यार्थी न केवल लक्ष्य प्राप्ति वरन् बौद्धिक विकास भी प्राप्त कर सकते हैं। इसे प्राप्त करने का कोई 'शार्टकट' अथवा छोटा रास्ता नहीं है। **स्वामी विवेकानन्द ने आज से लगभग नब्बे वर्ष पूर्व कहा था – 'चालाकी से कोई बड़ा काम नहीं हो सकता।'**

संदर्भ सूची :

1. पातंजलयोगदर्शनम् –व्याख्याकार, हरिहरानन्द आरण्य, संपादक– रामशंकर भट्टाचार्य।
2. स्वामी आत्मानन्द – अनुशासन का महत्त्व, विवेक ज्योति, 2010, पृ.12.
3. व्ही, पृ. 12
4. उत्तरशती का सांस्कृतिक विघटन –प्रो0 आर.डी. मिश्र, अमन प्रकाशन,सागर,पृ. 30.
5. वही, पृ. 31.
6. नैतिक मूल्यों की प्रासांगिकता – संपादक– सुरेन्द्रसिंह नेगी, बी.एन. शर्मा का लेख, पृ. 27.

7- Modernity and the problem of Culturer Identity – Edited by A.P. Dubey, N.B.C., New Delhi, p. 212.

8- Ibid, p- 213.

9. उत्तरशती का सांस्कृतिक विघटन – प्रो0 आर.डी. मिश्र, अमन प्रकाशन, सागर, पृ. 20.
10. हिन्दू दर्शन : एक समकालीन दृष्टि – डॉ0 कर्णसिंह, पृ. 101.

'भारत के देवी-देवता तथा सांस्कृतिक मूल्यों का पुनः चिंतन'

डॉ. हरनाम सिंह अलरेजा
विभागाध्यक्ष दर्शन एवं योग विभाग
शासकीय दिग्विजय महाविद्यालय
राजनांदगांव (छ.ग.)

भारत चहुंओर विकसित विविध आयामी सभ्यता, संस्कृति और दर्शन की अदभूत विशेषताओं से युक्त एक प्राचीन देश है। यहां की मिट्टी अलग-अलग प्रकार के संस्कृति संवाहको, नैतिक मूल्यों के निर्माता और दार्शनिक नायको की दृष्टि से अनुकूल, उर्वर, उपजाऊ रही है। भारत भूमि में अनेक ऋषि मुनि, विचारक, दार्शनिक, महापुरूष और संत ही नही हुए है वरन् असंख्य देवी-देवता भी है जो अपने विशिष्ट प्रतिकात्मक मूल्यो से, इस देश की संस्कृति को प्रतिबिंबित करते है और इस धरती की अमूल्य धरोहर है।

हम भारत के जनमानस के दिलो में राज करने वाले, आराध्य देवी-देवताओं का ध्यान करें तो प्रत्येक इनसे सुपरिचित है, शिव, राम, कृष्ण, दुर्गा, गणेश तथा हनुमान ऐसे सर्वव्यापक, लोकप्रिय देवी-देवता है जिनकी प्रतिकात्मक मूर्तियां बनाकर इन्हे श्रद्धा भाव, सर्मपण पूर्वक पूरे वर्ष किसी ना किसी उत्सव में हमेशा याद कहते है। यह भी उल्लेखनीय और ज्ञात सत्य है कि पूरे विश्व में कोतुहल और आश्चर्य का केन्द्र बने हमारे इन महान देवी-देवताओं की पहचान, इनमें से प्रत्येक के एक सार्वभौमिक मूल्य रूपी विशेषता से होती है, जो इन्हे अमर ही नही बना देता वरन् हमें सदैव प्रेरणा भी देता रहता है। भारत में मूर्ति पूजा के संदर्भ में उदघृत यह कथन सत्य है कि "भारत में उच्चतर सांस्कृतिक मूल्यों के साथ जुड़कर देवी-देवता जनमानस में जीवित बच गये जबकि अरब समेत दूसरी जमीनो पर अत्याचार और पाखंड का हथियार बनकर मिट गये।"1 यह अलग बात है कि आज भारत में, हमारे इन्ही महान देवी-देवताओ के चमत्कार पक्ष का आस्थाजन्य प्रचार कर, उन्हे व्यावसायिक लाभ का माध्यम बना दिया गया है तथा राजनीति इन्हे अपने वोट-बैंक का प्रामाणिक प्रदायक मानती है किन्तु इन देवी-देवताओं की प्रतिकात्मक अभिव्यक्ति हमें, आज भी भारत को समझने में मदद कर सकती है और यहां के सांस्कृतिक मूल्यों के पुनःचिंतन हेतु प्रेरित करती है।

भाद्र पद की शुक्ल पक्ष चौथ पर गणों के अधिपति, विघ्नेश गणेश की पूजा की जाती है। विघ्यांचल के दक्षिण भाग महाराष्ट्र और दक्षिण प्रदेश में गणेश अकल्पनीय रूप

से लोकप्रिय देवता है पर पूरे भारतवर्ष में इन्हे, किसी भी मांगलिक कार्य करने के पूर्व, अधिष्ठित और प्रसन्न किया जाता है।

गणेश ज्ञान और बुद्धि का देवता है। ज्ञान बौद्धिक विश्लेषण वैचारिक अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता भारतीय संस्कृति का प्रमुख क्षेत्र और भारतीय जनमानस का प्रिय बुद्धिविलास है जिसके प्रमुख दृष्टांत हमारे प्राचीन दार्शनिक ग्रंथ है। दुनिया का कोई भी विचारक, जब इस धरती पर रहने वाले लोगो के कल्याण हेतु, कवित्तमय भाषा में वैदिक मंत्रो को आहवानो। राजाओ–ऋषियों, गुरू–शिष्यों द्वारा उपनिषदो में, जटिल गूढ़ ज्ञान चर्चाओ, रामायण महाभारत में नीतिगत निर्णयों, सामाजिक कर्तव्यों, अध्यात्मिक उपाख्यानों की रोचक प्रस्तुतीकरण का प्रत्यक्षीकरण करता है तो वह अचंभित और स्तब्ध ही नही हो जाता वरन चार्वाक जैन, बौद्ध आजीविकों की नास्तिक विचारधाराओं से मुग्ध भी हो उठता है।

बुद्धि विनायक गणेश ज्ञान और वैचारिक उदारता के प्रतीक है किन्तु इस मूल्य में परिवर्तन को आज सम्पूर्ण भारत में महसूस किया जा सकता है। मस्जिद को ढहा देना, टायर से बांधकर जला देना, गौरक्षा हेतु निर्मम हत्याएं, इस प्रकार के कृत्य न तो कभी प्राचीन भारतीय जीवन शैली का अंग रहे है न ही वैचारिक असहमति के कारण, धार्मिक हिंसा का सहारा लेकर, यहां की परम्परा में किसी एक धर्म या सम्प्रदाय को महत्वपूर्ण माना गया है। यह प्रतिक्रिया स्वरूप ही सही, भारतीय जनमानस के व्यवहार में आक्रामकता, उग्रता और असुरक्षा नजर आ रही है तो यह देश की संस्कृति के अनुकूल नही है। किन्तु यह स्थिति इस देश में बढ़ने वाली या हमेशा रहने वाली नही है, क्योंकि गणेश जैसे ज्ञान प्रिय देवता को पूजने वाले इस देश के जनमानस के संदर्भ में भारतीय अध्ययनवेत्त, दार्शनिक डॉ. अंबिका दत्त शर्मा ने सही लिखा है कि "भारत के बौद्धिक ढांचे में कट्टरता के लिए कोई स्थान नही है।"2 इसी प्रकार देवो के देव महादेव की शिव इस देश में महिमा अपरंपार है। शिव कहां नही है? क्या पहाड़, क्या नदी, क्या वन, शिव तो शमशान में भी मौजुद है। असुर, नाग, यक्ष, गंधर्व ग्यारह कुल उनके अनुचर है। इसका कारण यह है शिव ने हर कुल हर संस्कृति हर विचार को आदर दिया वे सभी को शरण देते है इसीलिए वे सर्वपूजित है और हर तरह के लोग उनके विवाह की बारात में उपस्थित है। शिव हमारी संस्कृति के समन्वय के महान देवता है, वे सहअस्तित्व के पुरोधा है।

जब भारत के उत्तर पश्चिम की ओर से ईरान, अफगानिस्तान, काबुल के रास्ते से अनेक जातियां और हमलावर इस देश में प्रवेश करते है तो शिव के समन्वयवादी विशेषता से ओत–प्रोत इस देश की संस्कृति का वे सामना करते है। ईरानी यूनीनी, शक, मंगोल, तुर्क, अरब, पारसी, सभी इस देश में आकर आहार और स्थिरता, सुरक्षा और शांति का अर्थ समझ पाते है। भारत की संस्कृति उन्हे आश्रय ही नही देती, वरन उदारतापूर्वक, इनकी विचारधारा को समायोजित कर घुल मिल भी जाती है। मिश्रणशीलता इसका सर्वश्रेष्ठ गुण है। शिव इसके आदर्श है। देखा जाए तो भारत में अलग–अलग जातियों का जितना समन्यव, मिलन अंतर्भुक्तीकरण हुआ है उतना विश्व के किसी भी देश नही हुआ है। इसलिए यहां अलग ही प्रकार की विविधता और बहुलता नजर आती है। ''यह बहुलता किसी कबाड़खाने डिपार्टमेंटल स्टोर या चिड़ियाखाने का बहुलतावाद नही है, इसके भीतर संवाद, अंतर्क्रिया और अंतर्मिश्रण की प्रक्रिया भी होती है।''3 इसलिए जब असहिष्णु, भेदभाव और स्वयं को सर्वश्रेष्ठ बताने वाली कोई एक विचारधारा दिखलाई पड़ती है तो आश्चर्य होता है। वर्तमान में राजनीति का प्रत्येक विचार में परवर्ती मिश्रण कर, सोशल मीडिया, इलेक्ट्रानिक, प्रिंट मीडिया को आधार बनाकर तथ्यहीन और खतरनाक आंकड़ो को प्रस्तुत करने के खतरनाक खेल किए जाते है जिनके राजनैतिक मकसद नंगे है किन्तु भारत में जब तक शिव है, इस प्रकार की कोई भी कोशिश कामयाब नही हो सकती है, यहां के जनमानस के गुणसूत्र में समन्वय और सहअस्तित्व निहित है। शिव सर्वत्र व्याप्त है और शिव का समन्वयवाद किसी भी संकीर्ण विचारधारा के लिए स्वयं एक चुनौती है।

विष्णु के अवतार भगवान राम और कृष्ण का नाम इस देश में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति के जुबान पर रहता है। राम कथा, कृष्ण की जीवन और भगवद्गीता की ख्याति का क्षेत्र केवल भारत तक सीमित नही है, पूरे विश्व के विचारक इसकी महिमा से परिचित है। राम और कृष्ण दोनो धर्म पर आधारित सार्वभौमिक नियमों के रक्षक है और सत्य एवं धर्म पर आधारित व्यवस्था के समर्थक मर्यादा और नियमों के अप्रतिम देवता है। दोनो की जीवन शैली अलग–अलग है किन्तु जीवन का उद्देश्य एक है। राम मर्यादा और नियमों को अपने व्यवहार में प्रकट करते हैं जबकि कृष्ण इसी मर्यादा और नियमों की रक्षा करने के लिए अपने व्यवहार को समयानुसार परिवर्तित करते है। कृष्ण का विचार भी उसी *सार्वभौमिक साध्य का प्रेरक है जो राम का आदर्श है।ऐसे महान नायक राम और कृष्ण ने* अपने जीवन में व्यवस्था और नियमों पर आधारित राज्य के लिए दुर्दम्य संघर्ष किया

असहनीय कष्ट सहे लेकिन उनका समर्पित भारतीय अनुयायी किसी भी नैतिक, सामाजिक संवैधानिक नियमों की प्रतिबद्धता को स्वीकार नही करता है। यह आश्चर्यजनक विरोधाभास है कि भारत में लोगो में, नियमों के प्रति एक अवज्ञा का भाव अंतर्निहीत है बहुसंख्य भारतीयों के आचरण का अवलोकन करें तो वे किसी भी विधान या नियम को नही मानते उनके लिए कुछ भी सही और गलत नही है। न ही वह नियमो को तोड़ते और न ही भ्रष्टाचार करते समय किसी नैतिक अपराधबोध के द्वन्द में पड़ते है। उसके लिए सत्य या धर्म व्यवस्था पर आधारित अपने देश से महत्वपूर्ण, स्वयं का अमर्यादित, भ्रष्टाचारी व्यक्तिगत जीवन है। राम और कृष्ण जिन मूल्यों के प्रतीक है भारतीय संस्कृति की जो नियामक स्वतंत्रता है, एक भारतीय का आचरण, इस विशेषता का दुरूपयोग और अपमान है जो कि अत्यन्त दुःखद है।

इसी प्रकार भारत के चप्पे चप्पे में अगाध श्रद्धा और असीम भावना से समर्पित आराधना और पूजा यदि किसी की होती है तो वह शक्ति और कृषि की देवी दुर्गा ही है। शारदीय नवरात्र और चैत्र नवरात्र में वर्ष में दो बार उसके नौ रूपो का ही नही, न ही 52 शक्तिपीठों की वरन् देवी असंख्य नामो और अनेक रूपो में विद्यमान है तथा यह भय प्रेम शक्ति सभी प्रकार की भावनाओ को साकार करती आधुनिक मनुष्य से लेकर जंगल में रहने वाली जनजातियों के मनोमस्तिक में राज करती है।

मानव विज्ञानी तथा पुरातात्विक शोध बतलाते है कि स्त्री द्वारा कृषि की खोज किए जाने के पश्चात पशु–पालक भ्रमणशील मानवीय जीवन में स्थिरता आई क्योंकि खेती बाड़ी कृषि कार्य एक स्थान पर किया जाने लगा और उस भूमि के आसपास बस्तियां बनने लगी जो समाज का आरम्भिक रूप था और इसके बाद ही प्रारम्भिक मातृसत्तक समाज पितृसत्तक का रूप लेने लगा। धीरे–धीरे स्त्री का स्थान दोयम दर्जे का होने लगा और यह आज तक कायम है।

उर्वरता और उत्पादन की प्रतीक अन्नपूर्णा देवी का जसगायन उसके प्रति शरणागति और समर्पण तथा अनेक ग्रंथो में स्त्री के सम्मान के ऊँचे–ऊँचे विचारो को कितना भी प्रदर्शित किया जाए लेकिन जमीनी हकीकत यह है कि पुरूष के मन में स्त्री के प्रति विचार आज भी असमान है और वह उसका सम्मान नही करता है। देवी पूज्य है किन्तु अचेतन में प्रारम्भ से चले आ रहे संस्कार देवी की प्रतिरूप जीवित स्त्री को वह स्थान, वह भाव नही देते जिसकी वह हकदार है। आज भारतीय पुरूष की मानसिकता में दुर्गा आराध्य है लेकिन स्त्री सिर्फ एक शिकार है यह हकीकत है, जिसका हम सभी अनुभव करते है।

इस प्रकार देखा जाए इतने जाग्रत देवी–देवताओं से सजी इतनी समृद्ध संस्कृति और परम्परा विश्व के किसी देश में नही मिलती है। ये देवी–देवता सार्वभौमिक सांस्कृतिक मूल्यों को प्रकट करते है। गणेश वैचारिक उदारता, बौद्धिक स्वतंत्रता, शिव जातियों के समन्वय और सह अस्तिव राम और कृष्ण व्यवस्था और नियमों के प्रकाशक, दुर्गा स्त्रियों के सम्मान शक्ति और समानता को प्रेषित करने वाली देवी है। इसके बावजूद व्यवहारिक स्तर पर हमारे आचरण में इतना विरोधाभास क्यों है? क्या कारण है हमारा देश अव्यवस्था अराजकता का प्रतीक है। प्रख्यात अंग्रेज पत्रकार और लेखक मार्क टुली भी कहते है कि हम लोग यहाँ करीब 1840 से हैं साथ ही भारतीय धर्म, साहित्य और यहाँ का दर्शन अदभूत है मैं भारत की क्षमता देखकर अवाक रह जाता हू पर मुझे हैरत है कि इतने के बावजूद यह देश कामयाब क्यों नही हो रहा।''4

यह बिल्कुल सत्य है कि भारतीय दर्शन, सांस्कृतिक मूल्यों पर आधारित भारतीय जीवन शैली पूरे विश्व पर छा जाने वाली सार्वभौमिक विशेषताओं से भरी हुई है किन्तु यह भी सत्य है कि हमने अपने देवी–देवताओं को आर्थिक और भावनात्मक शोषण का हिस्सा बना दिया है। हमारा आचरण हमारे सांस्कृतिक मूल्यों के प्रतीक इन देवी देवताओं की आराधना करने के बावजूद, विपरीत है। इन मूल्यों और हमारे आचरण के अंतविरोध को कोई भी देख सकता है। हमारे अंदर हमारे सर्वप्रिय देवता हनुमान जैसी निष्ठा और समर्पण का अभाव है। हम निष्ठा और समर्पण के प्रतीक पवनपुत्र बजरंगबली के मंदिर में हर मंगलवार बिना नागा जाते जरूर है पर हम निष्ठा और समर्पण नही सीख पाते है। यह हमारे जीवन की अफसोस जन्य अवस्था है और एक दिन कही ऐसा न हो जाए हमारे ये महान देवी–देवता हमसे दूर चले जाए।

संदर्भ सूची

1. शंभुनाथ धर्म का दुखांत पष्ठ 36 आधार प्रकाशन पंचकुला हरियाणा
2. शर्मा अंबिकादत्त, समेकित दार्शनिक विमर्श प्रस्तावना विश्वविद्यालय प्रकाशन सागर एवं भाषीय राजपथ
3. शंभुनाथ, धर्म का दुखांत, पृष्ठ–157 आधार प्रकाशन पंचकुला हरियाणा
4. इंडिया टूडे, 1 नवम्बर 2017 अंक, अंतिम पृष्ठ

Science of Yoga Practices on Delaying Aging

DR. Shama Afroze Baig
Assistant Professor,
Department of Philosophy,
Govt. Digvijay College, Rajnandgaon, C.G.
Email: shamaabaig@gmail.com.

INTRODUCTION:

When we visualize Indian tradition —Purushartha then we accept —Ashram concept (Brahmacharya, Grihastha, Vanyaprasth, and Sanyasa) and hence gain a positive knowledge of living up to 100 years. In the second shloka of Isavasyopnishad also the life has been shown up to 100 years. The age up to 100 years with good health might be an ideal, but is not imposible. By means of Yoga this can be achieved. Yoga is a Science and the yoga asanas can be proven scientifically. 35 years back when a renowned Physicist —Dr. Fritjof Capro visited Bombay to participate in Transpersonal Conference somebody asked him, Being a Physicist, Do you think that Yoga meditation is related to science? He then answered, that, I have not travelled across 8000miles without a cause in this metaphysical counsel. When the world will be stressed by materialism, then everyone will have hopes from India. The medicine for the cure of World is present in Yoga and Meditation of India. If our body and soul is healthy, then no disease will occur and aging will be delayed and we can lead centenarian life. This research paper deals with the science of yogic practices to delay aging.

When Does Aging Begin?

Aging is a pattern of life changes that occurs as one grows older. Aging begins the day we are born, no single measure of how—old a person is, aging is highly individualized, aging proceeds at different rates in different people, and within different systems of the body [1]. Gerontology is the study of individual and collective aging process. Age is broadly divided into five types: Biological Age, Psycological age, Social age, Legal age, Functional age

Why Do People Age?

Many reasons to include are:

- Hereditary Factors
- Loss of cellular mass and ability of cells to divide and replicate
- Accumulation of waste materials that clog cells and cause them to die
- Changes in structure of connective tissue
- No single theory adequately describes the aging process.

Some of the most widely accepted theories are:

- The **free radical theory** of aging states —Cells accumulate oxidative damage caused by free radicals which are the normal by products of metabolism. Aging is characterised by a decline in inability to neutralise free radicals [(2)].
- The **rate of living theory** states that lifespan is inversely related to metabolic rate. It appears to apply to many species; however a notable exception is birds.
- **Lack of protein turnover** may cause aging.
- **Evolutionary theories** of aging suggest that the previous generation age and die to make way for their offspring, maintaining genetic diversity within the population.
- **Programmed aging theory**, aging is genetically programmed, and age related changes in cellular function result in increasing susceptibility to disease and eventually lead to death.
- **Programmed cell death (apoptosis)** theories of aging based around imply that as people age, more of their cells start to decide to die [(3)].
- **The cell division limit theory** states that there is a specific limitation on the number of divisions that somatic cells might undergo.
- **The telomeric theory** of aging postulates that as telomeres (regions of repetitive DNA at the ends of chromosomes) shorten each time a cell divides; this leads damage to essential DNA. This results in cellular damage due to the

inability of the cell to duplicate itself correctly. Elevated levels of oxidative stress and inflammation further increase the telomere attrition rate. This theory ties in with the free radical theory and the cell division limit theory **(4) (5) (6) (7) (8) (9)**.

Normal Changes of Aging:

Physical changes related to —Normal aging ARE NOT disease, changes occur in most body systems includes:

- Sensory System
- Brain and Central Nervous System
- Muscles and Bones
- Digestion
- Heart/Circulatory System[10]
- Respiratory System

GOOD NEWS!

Intellectual functioning defined as —Stored memory increases with age, Problem solving skills increase with age and Older people are able to learn very well[11].

Aging with Yoga

We all change physically, as we grow older. Some systems slow down, while others lose their "fine tuning"[12]. People who live an active lifestyle lose less muscle mass and flexibility as they age. As a general rule, slight, gradual changes are common, and most of these are not problems to the person who experiences them. Steps can be taken to help prevent illness and injury, and which help maximize the older person's independence, if problems do occur [13] [14]. There is no need for most people to fear getting older.

There are several physical factors in the yogic lifestyle that influence health and aging[15]. For eg. Calorie Restriction has proven to extend longevity and reduce the

physical manifestations of aging. Calorie restricted diet increases life span [16]. Calorie restriction have significant impact on metabolism. They are:

- Lower levels of blood glucose and insulin
- Reduced body temperature
- Less fat in the blood, more HDL (high-density lipoprotein - good cholesterol)
- A steady level of DHEA (dehydroepiandrosterone - a steroid hormone)

CR promotes lifespan extension is the rate of living theory. It is hypothesized that a lowering of the metabolic rate results in lowering of reactive oxygen species (ROS) and rate of oxidative damage to vital tissues [17].

Asanas when practiced along with pranayama and meditation over a period of time actually significantly reduce the metabolic rate [18]. The metabolic rate is an indicator of autonomic activity. The lower metabolic rates in the yoga subjects may have been due to decreased sympathetic nervous system activity and probably, a stable autonomic nervous system response achieved due to training in yoga [19]. Alternate nostril breathing selectively through either nostril have a marked activating effect or a relaxing effect on the sympathetic nervous system; it is possible to alter metabolism by changing the breathing pattern[20] [21].

The practice of yoga has shown to decrease stress levels, to lower blood pressure, and to slow down the rate of aging[22] [23]. Yoga asanas and pranayama help to remove physical and cellular waste, to improve muscle tone, and to protect, strengthen and repair joints and ligaments [24]. The regular practice of Yoga increases mental, emotional, spiritual clarity and improves focus, discipline, balance, intuition, imagination, creativity and understanding [25] [26] [27] [28]. A number of asanas are found to be very helpful for vitality and rejunevations, these are:

- The Spinal Roll
- The Stomach Lift (Uddyiana Bandha)
- The Headstand (Shirshasana)
- The Shoulder Stand (Sarvangasana)

- The Reverse Posture(Viparitakarani Mudra)
- The Plough Posture (Halasana)
- Forward Bend posture(Padasthana)
- The Fish posture (Matasayasana)
- The Twist Posture(Ardhmatasyaendrasana)
- Neck Exercises
- Eye Exercises

CONCLUSION: All of the physiological factors contribute to longevity and health into old age with consistent yoga practice. The combined metabolic effect of the practices of asana, pranayama and meditation may work in synergy with other physical effects, possibly setting yoga practice apart from other forms of exercise in delaying or preventing the onset of age related disease.Yoga practice is a natural and healthy way to potentially achieve many of the benefits without the associated risks, and in this manner to aid in slowing the aging process.

REFERENCES:

1. R. Santhakumari, I. Reddy, R. Archana, and P. Rajesh, —Role of yoga in alienating the memory decline and frontal lobe metabolite changes in type 2 diabetes, International Journal of Research in Ayurveda & Pharmacy, vol. 7, no. 1, pp. 78–81, 2016.
2. K.-H. Wagner, D. Cameron-Smith, B. Wessner, and B. Franzke, —Biomarkers of aging: from function to molecular biology, Nutrients, vol. 8, no. 6, article 338, 2016. C. Correia-Melo, G. Hewitt, and J. F. Passos, —Telomeres, oxidative stress and inflammatory factors: partners in cellular senescence? Longevity & Healthspan, vol. 3, no. 1, 2014.
3. M.-R. Pan, K. Li, S.-Y. Lin, and W.-C. Hung, —Connecting the dots: from DNA damage and repair to aging, International Journal of Molecular Sciences, vol. 17, no. 5, article 685, 2016.

4. V. Boccardi, G. Paolisso, and P. Mecocci, —Nutrition and lifestyle in healthy aging: the telomerase challenge, Aging, vol. 8, no. 1, pp. 12–15, 2016.

5. B. Hari Krishna, C. Kiran Kumar, and N. M. Reddy, —Association of leukocyte telomere length with oxidative stress in yoga practitioners, Journal of Clinical and Diagnostic Research, vol. 9, no. 3, pp. CC01–CC03, 2015.

6. H. Oeseburg, R. A. De Boer, W. H. Van Gilst, and P. Van Der Harst, —Telomere biology in healthy aging and disease, Pflugers Archiv European Journal of Physiology, vol. 459, no. 2, pp. 259–268, 2010.

7. S. Kawanishi and S. Oikawa, —Mechanism of telomere shortening by oxidative stress, Annals of the New York Academy of Sciences, vol. 1019, pp. 278–284, 2004.

8. M. A. Shammas, —Telomeres, lifestyle, cancer, and aging, Current Opinion in Clinical Nutrition and Metabolic Care, vol. 14, no. 1, pp. 28–34, 2011.

9. S. B. Kumar, R. Yadav, R. K. Yadav, M. Tolahunase, and R. Dada, —Telomerase activity and cellular aging might be positively modified by a yoga-based lifestyle intervention, The Journal of Alternative and Complementary Medicine, vol. 21, no. 6, pp. 370–372, 2015.

10. A. S. Jackson, X. Sui, J. R. Hébert, T. S. Church, and S. N. Blair, —Role of lifestyle and aging on the longitudinal change in cardiorespiratory fitness, Archives of Internal Medicine, vol. 169, no. 19, pp. 1781–1787, 2009.

11. J. Shaffer, —Neuroplasticity and clinical practice: building brain power for health, Frontiers in Psychology, vol. 7, article no. 1118, 2016.

12. C. Franceschi and J. Campisi, —Chronic inflammation (Inflammaging) and its potential contribution to age-associated diseases, Journals of Gerontology—Series A Biological Sciences and Medical Sciences, vol. 69, pp. S4–S9, 2014.

13. M. R. Tolahunase, R. K. Yadav, S. Khan, and R. Dada, —Reversal of aging by yoga and meditation, Journal of International Society of Antioxidants, vol. 1, no. 1, 2015.

14. T. Dada, M. A. Faiq, K. Mohanty et al., Eds., Effect of Yoga and Meditation Based Intervention on Intraocular Pressure, Quality of Life, Oxidative Stress and Gene

Expression Pattern in Primary Open Angle Glaucoma: A Randomized Controlled Trial, ARVO, Seattle, Wash, USA, 2016.

15. V. D. Longo, A. Antebi, A. Bartke et al., —Interventions to slow aging in humans: are we ready? Aging Cell, vol. 14, no. 4, pp. 497–510, 2015.

16. L. Vitetta and B. Anton, —Lifestyle and nutrition, caloric restriction, mitochondrial health and hormones: scientific interventions for anti-aging, Clinical Interventions in Aging, vol. 2, no. 4, pp. 537–543, 2007.

17. G. López-Lluch and P. Navas, —Calorie restriction as an intervention in ageing, Journal of Physiology, vol. 594, no. 8, pp. 2043–2060, 2016.

18. R. Dada, S. B. Kumar, M. Tolahunase, M. Mishra, K. Mohanty, and T. Mukesh, —Yoga and meditation as a therapeutic intervention in oxidative stress and oxidative DNA damage to paternal genome, Journal of Yoga & Physical Therapy, vol. 5, no. 4, 2015.

19. S. F. Sleiman, J. Henry, R. Al-Haddad et al., —Exercise promotes the expression of brain derived neurotrophic factor (BDNF) through the action of the ketone body β hydroxybutyrate, eLife, vol. 5, Article ID e15092, 2016.

20. S. Kumar, R. Yadav, and R. Dada, —Yoga as an effective lifestyle intervention for Bhopal methyl isocyanate gas leakage catastrophe victims, International Journal of Yoga, vol. 8, no. 2, p. 162, 2015.

21. R. Vempati, R. Bijlani, and K. K. Deepak, —The efficacy of a comprehensive lifestyle modification programme based on yoga in the management of bronchial asthma: a randomized controlled trial, BMC Pulmonary Medicine, vol. 9, article no. 37, 2009.

22. D. E. R. Warburton, C. W. Nicol, and S. S. D. Bredin, —Health benefits of physical activity: the evidence, CMAJ, vol. 174, no. 6, pp. 801–809, 2006.

23. R. L. Bijlani, R. P. Vempati, R. K. Yadav et al., —A brief but comprehensive lifestyle education program based on yoga reduces risk factors for cardiovascular disease and diabetes mellitus, Journal of Alternative and Complementary Medicine, vol. 11, no. 2, pp. 267–274, 2005.

24. K. E. Riley and C. L. Park, —How does yoga reduce stress? A systematic review of mechanisms of change and guide to future inquiry, Health Psychology Review, vol. 9, no. 3, pp. 379–396, 2015.

25. A. Büssing, A. Michalsen, S. B. S. Khalsa, S. Telles, and K. J. Sherman, —Effects of yoga on mental and physical health: a short summary of reviews, Evidence-Based Complementary and Alternative Medicine, vol. 2012, Article ID 165410, 7 pages, 2012.

26. T. Field, —Yoga research review, Complementary Therapies in Clinical Practice, vol. 24, pp. 145–161, 2016.

27. M. E. Papp, P. Lindfors, M. Nygren-Bonnier, L. Gullstrand, and P. E. Wändell, —Effects of high-intensity hatha yoga on cardiovascular fitness, adipocytokines, and apolipoproteins in healthy students: a randomized controlled study, Journal of Alternative and Complementary Medicine, vol. 22, no. 1, pp. 81–87, 2016.

28. P. M. Siu, A. P. Yu, I. F. Benzie, and J. Woo, —Effects of 1-year yoga on cardiovascular risk factors in middle-aged and older adults with metabolic syndrome: a randomized trial, Diabetology and Metabolic Syndrome, vol. 7, no. 1, article no. 40, 2015.

दर्शन परिषद् (मध्यप्रदेशएवं छत्तीसगढ़)

वर्तमान पदाधिकारी

-संरक्षक-

प्रो. डॉ. छाया राय (आचार्य एवं अध्यक्ष, सेवानिवृता)
रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर (म.प्र.)

-कार्यकारिणी-

अध्यक्ष–

प्रो. सुरेन्द्र सिंह नेगी

(आचार्य एवं अध्यक्ष, सेवानिवृत्त)

डॉ. हरीसिंह गौर केन्द्रीय विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)

मो. नं. 9754892814

उपाध्यक्ष–

प्रो. सविता गुप्ता,

अध्यक्ष, दर्शन विभाग,

डॉ. हरीसिंह गौर केन्द्रीय विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)

मो. नं. 9926937683

सचिव–

प्रो. जयप्रकाश शाक्य,

अध्यक्ष, दर्शन विभाग

शा. महाराजा छत्रसाल महाविद्यालय,

छतरपुर (म.प्र.) मो. नं. 9826219551

सह सचिव–

डॉ. एच. एस. अलरेजा

अध्यक्ष, दर्शन विभाग

शा. दिग्विजय महाविद्यालय, राजनांदगांव

छत्तीसगढ़, **मो.नं.** 9425245714

प्रो. विनीता अवस्थी

अध्यक्ष, दर्शन विभाग,

शासकीय नर्मदा महाविद्यालय, होशंगाबाद (म.प्र.)

डॉ. डी. एस. मरावी

अध्यक्ष, दर्शन विभाग,

शासकीय टी. सी. एल. महाविद्यालय, जाँजगीर,

छत्तीसगढ़, मोबा. नं. 9826123562

डॉ. श्रीकान्त मिश्र

अध्यक्ष, अद्वैत दर्शन विभाग,

अवधेश प्रताप सिंह वि.वि. रीवा (म.प्र.)

मोबा. 9407302146

डॉ. जाहिरा खातून

दर्शन विभाग,

सरोजिनी नायडू, शा. कन्या महाविद्यालय

भोपाल (म.प्र.), मोबा. 9827668770

-कोषाध्यक्ष-

डॉ. सत्यनारायण देवलिया, दर्शन विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर वि.वि., सागर (म.प्र.)
मोबा. 98933450106

निस्केयर
NISCAIR

राष्ट्रीय विज्ञान संचार एवं सूचना स्रोत संस्थान
NATIONAL INSTITUTE OF SCIENCE COMMUNICATION
AND INFORMATION RESOURCES
(वैज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसंधान परिषद्)
(Council Of Scientific and Industrial Research)
14, सत्संग विहार मार्ग, नई दिल्ली 110 067
14, SATSANG VIHAR MARG, NEW DELHI 110 067 &
डॉ. के. एस. कृष्णन् मार्ग, नई दिल्ली 110 012
Dr. K.S. KRISHNAN MARG (Near Pusa Gate) NEW DELHI 110 012

NSL/ISSN/INF/2009-10 July 7, 2009

Dr. J. S. Duby
DEVARANYA
1200 / P-83
Narmada Nagar,
Gwarighat Road,
Jabalpur - 482008 (MP)

Sir/Madam,

We are happy to inform you that the following serial(s) published by you has been registered and assigned ISSN. (Print)

ISSN 0975 - 2560 PARAMITA

It is important that the ISSN should be printed on every issue preferably at the right hand top corner of the cover page.

The Indian National Centre will be responsible for monitoring the use of ISSN assigned to Indian Serials and for supplying up to date data of the same to the international Centre for ISSN, Paris. For this purpose we request you to send us the fourth coming issue of your serial on complimentary basis.

We solicit your co-operation in this regard.

Yours Sincerely

for Head
National Science Library

दूरभाष/Phone : सत्संग विहार मार्ग/Satsang Vihar Marg : 91-11-26560141, 26560143, 26560165 फैक्स/Fax : 91-11-26862228
दूरभाष/Phone : डॉ. के.एस. कृष्णन् मार्ग/Dr. K.S. Krishan Marg : 91-11-25846301,25842303, 25846304-07, 25842990, 25865131-32 फैक्स/Fax : 91-11-25847062, 25849949
ई-मेल/E-mail : coa@niscair.res.in naresh@niscair.res.in वेबसाइट/Website : coa@niscair.res.in

दर्शन परिषद् (मध्यप्रदेश एवं छत्तीसगढ़)

वर्तमान पदाधिकारी

संरक्षक

प्रो. डॉ. छाया राय (आचार्य एवं अध्यक्ष, सेवानिवृता)
रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर (म.प्र.)

कार्यकारिणी

अध्यक्ष
प्रो. सुरेन्द्र सिंह नेगी
(आचार्य एवं अध्यक्ष, सेवानिवृत्त)
डॉ. हरीसिंह गौर केन्द्रीय विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)
मोबा. नं. 9754892814

उपाध्यक्ष
प्रो. सविता गुप्ता
अध्यक्ष, दर्शन विभाग,
डॉ. हरीसिंह गौर केन्द्रीय विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)
मोबा. नं. 9926937683

प्रो. विनीता अवस्थी
अध्यक्ष, दर्शन विभाग,
शासकीय नर्मदा महाविद्यालय, होशंगाबाद (म.प्र.)

डॉ. श्रीकान्त मिश्र
अध्यक्ष, अद्वैत दर्शन विभाग,
अवधेश प्रताप सिंह वि.वि. रीवा (म.प्र.)
मोबा. 9407302146

सचिव -
प्रो. जयप्रकाश शाक्य
अध्यक्ष, दर्शन विभाग
शा.महाराजा छत्रसाल महाविद्यालय,
छतरपुर (म.प्र.) मोबा. नं. 9826219551

सह सचिव -
डॉ. एच.एस. अलरेजा
अध्यक्ष, दर्शन विभाग
शा. दिग्विजय महाविद्यालय, राजनांदगांव
छत्तीसगढ़, मोबा. नं.9425245714

डॉ. डी. एस. मरावी
अध्यक्ष, दर्शन विभाग,
शासकीय टी.सी.एल. महाविद्यालय, जाँजगीर,
छत्तीसगढ़, मोबा. नं. 9826123562

डॉ. जाहिरा खातून
दर्शन विभाग,
सरोजिनी नायडू, शा. कन्या महाविद्यालय
भोपाल (म.प्र.), मोबा. 9827668770

डॉ. सत्यनारायण देवलिया, दर्शन विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर वि.वि., सागर (म.प्र.)

मोबा. 9893345010б